SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
The M. S. University of Baroda

Chapter-1

प्रथम अध्याय

18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बंगाल की राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ तथा वर्तमान तक की सांगीतिक गतिविधियाँ ।

18वीं सदी के उत्तरार्ध में बंगाल की राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ तथा वर्तमान तक की सांगीतिक गतिविधियाँ आदि विषयों की चर्चा के साथ-साथ यहाँ सामान्य रूप से भारत की राजनैतिक, समाज, संस्कृति, संगीत आदि विषयों की चर्चा को भी सम्मिलित किया गया है। क्योंकि, बंगाल प्रदेश भारत का ही एक बड़ा अंश होने के कारण बंगाल की ये परिस्थितियाँ भारत की इन सभी परिस्थितियों से जुड़ी हुई है। अतः बंगाल की राजनीति, समाज, संस्कृति तथा संगीत को हम सम्पूर्ण भारत में प्रचलित इन सभी विषयों से अलग नहीं कर सकते। फिर भी प्रत्येक प्रदेश तथा इलाकों की अपनी-अपनी स्वतन्त्र समाज व्यवस्था, सांस्कृतिक वैशिष्ट्य तथा सांगीतिक गतिविधियाँ रहना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से 18वीं सदी के उत्तरार्ध में बंगाल की राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ कैसी रहीं, उनमें किस प्रकार से पाश्चात्य प्रभाव सम्मिलित हुआ एवं उसकाल से वर्तमान तक की सांगीतिक गतिविधियों में महान संगीत मनीषियों का क्या योगदान रहा इन्हीं विषयों की चर्चा के दौरान यह अध्याय सम्पन्न हुआ।

1. राजनैतिक परिस्थिति

बहुत दिनों के अंग्रेज़ शासन के परिणाम स्वरूप भारतीय जन-जीवन के सभी मोड़ो पर एक बहुत ही बड़ा परिवर्तन दिखाई दिया था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने सर्वप्रथम व्यापारिक क्षेत्र में ही विशेष रूप से प्रभाव विस्तार किया था। किन्तु उन्होंने भारत में एक अपने साम्राज्यवाद की स्थापना की और उसमें उनका स्वार्थ ब्रिटिश साम्राज्यवाद को अधिक से अधिक लाभान्वित करना था। इस स्वार्थ के चलते भारत की जनता हर तरफ से शोषित हो रही थी। वो चाहे राजनैतिक, सामाजिक या सांस्कृतिक कोई भी क्षेत्र हो। अन्त में जब यह शोषण सीमा से बाहर हो गया, तो शिक्षित सम्प्रदाय में एक नव-चेतना या जागरण उत्पन्न हुआ। उस नव-चेतना ने भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक सभी क्षत्रों को प्रभावित किया। बंगाल प्रदेश और बंगाली जाति ही इस नव-जागरण के अग्रदूत हुए।

बंगाल का राजनैतिक नव-जागरण

निद्रा के बाद होता है जागरण और लम्बी निद्रा के बाद जब आत्म विलुप्ति होती है, तब आता है उत्थान अथवा पूनर्जन्म या नव-जागरण। युरोप में जब ऐसी ही घटना हुई थी तब (युरोपीय मध्ययुग में) युरोपीय नव-जागरण के अग्रदूत थे ईटली और ईटलीवासी। भारतीय इतिहास में भी ऐसे ही नव-जागरण के अग्रदूत हुए बंगाल प्रदेश तथा बंगाली जाति।

मुगल साम्राज्य के पतन के युग में पूरे भारतवर्ष में ही राजनैतिक विरोधाभास का चित्र देखने को मिलता है। इस राजनैतिक विरोधाभास ने पूरे भारतवर्ष को छोटे-छोटे खण्ड में विभक्त कर दिया था। राजनीति का ऐसा पतन सिर्फ राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि आर्थिक, सामाजिक, साहित्य-संस्कृति धर्म आदि सभी क्षेत्रों में क्रमानुसार इसका प्रभाव पड़ा था। भारतीय इतिहास में तब एक अन्धेरे युग का प्रारम्भ हुआ था। लेकिन, सृष्टि का महत्त्व (नियम) ही यह है कि, रात के बाद सुबह् जरूर होती है और उसी सुबह् का इन्तज़ार या आशा सभी को रहती है।

सुधारकों का प्रादूर्भाव

भारतीय इतिहास में इस अन्धेरे युग की समाप्ति करने और सुबह लाने के लिए कुछ मनीषियों ने अपना कर्तव्य निभाया। उनमें सर्वप्रथम जिनका नाम लिया जा सकता है, वह हैं राजा राममोहन राय जिन्हें हम आधुनिक भारत का सर्वप्रथम नेता कह सकते हैं। इस राजनैतिक नव-जागरण के मुख्य व्यक्ति थे राजा राममोहन राय। अपने देश और जनता के लिए उनके मन में तीव्र ममता का जन्म हुआ था। देश की उन्नति के लिए उन्होंनें ज़िन्दगीभर कठिन प्रयास किया। राजनैतिक क्षेत्र में राममोहन राय भारतीय नव-जागरण के भविष्य द्रष्टा थे। उनकी राजनीति का मूल मन्त्र था स्वाधीनता प्राप्ति एवं देश-प्रेम। शासन विधि के उपाय से राजनैतिक विरोधों को दूर करने के लिए जिस मार्ग का सन्धान उन्होंने किया था, उसी मार्ग के अनुसरण से ही सन् 1885 में भारतीय कांग्रेस का जन्म हुआ था। राजनीति के लिए उनका मत अति आधुनिक था। वे भारत के आधुनिक युग के अग्रदूत थे। एवं उन्हें प्राच्य और पाश्चात्य भावधाराओं का सम्मिलित प्रतीक माना जाता है। वे अनेक विदेशी भाषाओं के

प्रवीण थे। विभिन्न धर्म, और धर्मीय आन्दोलनों के बारे में उन्हें विशेष ज्ञान था। परवर्ती समय में उन्होंने पाश्चात्य दर्शन और संस्कृति का भी अध्ययन किया। सन् 1814 से वे स्थायी रूप से कोलकाता में निवास करने लगे। भारत में नव-जागृत जाति की प्रतिष्ठा के लिए सर्वप्रथम उनका नाम लिया जा सकता है। स्वाधीन भारत की प्रतिष्ठा ही उनके कार्यों का मूल उद्देश्य था। 19वीं सदी के उत्तरार्ध तक भारतीय आसमान में राममोहन राय एक चमकते हुए नक्षत्र स्वरूप थे। उस समय राजनैतिक विरोधाभास को सुधार ने के लिए बंगाल के अनेक मनीषियों ने भी उनका साथ दिया। उनमें अंग्रेज़ सम्प्रदाय से डेविड हेयर, भारतीयों में से द्वारकानाथ ठाकुर, प्रसन्न कुमार ठाकुर, चन्द्रशेखर देव, ताराचँद चक्रबर्ती आदि उल्लेखनीय हैं।

उस काल में अंग्रेज़ और भारतीय सभी सम्प्रदायों में, सन्मान के समान अधिकार प्रतिष्ठा के प्रयास से राजनैतिक लड़ाई की शुरूआत हुई। अत्याचारी अंग्रेज़ राज-शक्ति से देश और देशवासियों की रक्षा एवं उन्में देश-प्रेम जागृत करने के लिए कुछ राजनैतिक संगठनों की प्रतिष्ठा हुई थी। दूसरी ओर साहित्य, नाटक एवं संगीत आदि के माध्यम से भी देशवासियों को सजग रखने का प्रयास किया जा रहा था।

18वीं सदी के उत्तरार्ध में भारत वर्ष जब East India Company के अधीन हो गया और विशेष रूप से बंगाल में वे राजनैतिक अधिकार स्थापना में समर्थ हुए, तब स्वाभाविक रूप से ही भारत की राजनीति, समाज-संस्कृति आदि सभी प्रकार के जीवन-दर्शन में नए-नए परिवर्तन होने लगे। सर्वप्रथम बंगाल प्रदेश में ही ऐसे परिवर्तनों की शुरूआत हुई। धीरे-धीरे भारत वर्ष के सभी प्रदेशों में यह परिवर्तन प्रसारित होने लगा। उनमें कुछ परिवर्तन देश और देशवासियों के लिए ग्रहणयोग्य था परन्तु ज्यादा से ज्यादा उनकी ग्रहणयोग्यता के बाहर था। यह ग्रहण और वर्जन के विषयों को लेकर ही उस समय संग्राम की शुरूआत हुई।

बंगाल में अंग्रेज़ सत्ता के स्थापना काल में सम्पूर्ण भारत विविध प्रकार के विरोधाभास से भरा हुआ था। अनेक दिनों से देशवासियों ने इस परिस्थिति को मान लिया था। उनके लिए यह सोचना कठिन हो गया था कि, ऐसी परिस्थितियों का भी मुक़ाबला किया जा सकता है।

अंग्रेज़ों के विविध कार्यों के लिए भारतीयों के मन में उनके लिए नफ़रत पैदा हो गई थीं। किन्तु अंग्रेज़ गोष्ठी कुछ दिनों में ही इस परिस्थिति को सम्हालने में कामियाब हुए। तबतक देश के चिन्तनशील व्यक्तिवर्गों को यह उपलब्धि हो गई थी कि, अंग्रेज़ों की इस शक्ति के मूल में कई सद्गुण भी हैं। स्वाभाविक रूप से इस विचार और पर्यवेक्षण ने उनको अपने दोष-गुणों को समझने में सहायता की। परन्तु ब्रिटिश राज की अर्ध शताब्दी तक शिक्षित बंगाली के मन में एक प्रकार का भाव जागृत हुआ था जिसे राष्ट्र-बोध का भाव कहा जा सकता है।

उस समय भारत के सभी खण्डराज्य एक के बाद एक अंग्रेज़ शासन के अन्तर्गत आने लगे और एक ही नियम-श्रृंखला तथा बन्धनों में बन्धने लगे थे। अंग्रेज़ गोष्ठी भारत के सभी खण्ड राज्यों को एककर एक अखण्ड राज्य की प्रतिष्ठा करने में सफल हुए। अंग्रेज़ों के इस प्रयत्न से अलग-अलग राज्यों के लोग भी अपने-अपने राज्य को भारत के परिप्रेक्ष में देखने लगे।

बंगाल में जब अंग्रेज़ी शिक्षा की शुरूआत हुई तब लोग इसी शिक्षा पद्धति से शिक्षित होने लगे। फलस्वरूप उनमें विचार शक्ति का उदय हुआ। उन शिक्षित लोगों के मन में अपनी अधःपतित जाति के लिए मंगल और उन्नति की कामना होने लगी और विपरीत परिस्थितियों से मुक़ाबला करने की शक्ति भी उनमें आई। फलतः अंग्रेज़ों के साथ उन शिक्षित व्यक्तिवर्गों का विवाद होने लगा। यह विवाद का कारण प्रत्यक्ष रूप में न सही किन्तु परोक्ष रूप में एक प्रकार का राष्ट्र-बोध ही था इस विषय पर कोई सन्देह नहीं। केवल शिक्षित व्यक्तिवर्गों में ही नहीं वरन् धीरे-धीरे देश की सर्वसाधारण जनता में भी इस राष्ट्रीय भाव का जोरदार विस्तार होने लगा। इस विवाद को सफल रूप देने के लिए सम्पूर्ण भारत की जनता में किसी प्रकार के विपरीत मनोभावों का प्रकाश नहीं मिलता है। विदेशी शासक के लिए देशवासियों के मन में नफ़रत पैदा जरूर हुई थी, परन्तु उनकी कुछ गुणावलियों को देखते हुए भारतीय समाज में इन सदगुणों की विशेष जरूरत है, यह उपलब्धि भी उनमें होने लगी। देश की उन्नति के लिए जातियतावाद को केन्द्रित करके विविध विषयों के गठनमूलक आदर्श पर अवलम्बन करना ही भारतवासियों का मूल मन्त्र हो गया था। ऐसे आदर्श को पूरा करने के लिए जरूरी है राष्ट्रीय एकता और इस एकता से ही मुक्ति की लड़ाई सार्थक हो सकती है,

यही था भारतीय चिन्ताविद व्यक्तियों का विश्वास। कुछ ऐतिहासिकों का मत यह है कि सिपाही विद्रोह का मुख्य कारण था भारत की मुक्ति-चिन्ता। परन्तु उस वक्त भारत की राजनैतिक शक्ति उतनी ज़ोरदार नहीं थी कि वे अपने आपको स्वाधीन कर सकें। किन्तु धीरे-धीरे बुद्धि, चिन्ता, शिक्षा आदि विषयों की उन्नति कर मुक्ति की ओर आगे बढ़ना ही देशवासियों का मुख्य उद्देश्य था।

अगर बंगाल प्रदेश की सामाजिक इतिहास की पर्यालोचना की जाए, तो यही पता चलेगा कि जाति की उन्नति की चिन्ता अंग्रेज़ शासन के कुछ साल बाद ही आरम्भ हो गई थी। राजा राममोहन राय एवं द्वारकानाथ ठाकुर का जन्म 18वीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ था। अन्य अनेक सुधारक जैसे – कृष्णमोहन बैनर्जी, देबेन्द्रनाथ ठाकुर, रामगोपाल घोष, रसिककृष्ण मल्लिक, राधानाथ शिकदार, ताराचँद चक्रबर्ती प्रमुख मनीषियों का जन्म भी 19वीं सदी के प्रथमार्ध में हुआ था। उनके बाद जिन चिन्ताविदों का आविर्भाव हुआ उनमें ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, माईकेल मधुसूदन दत्त, केशवचन्द्र, दीनबन्धु मित्र, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रबल रूप से अंग्रेज़ी शिक्षा की शुरूआत सन् 1845 से ही हुई थी। उसके बाद स्त्री शिक्षा के लिए 'बिट्रेन कॉलेज' की स्थापना हुई। तत्पश्चात् विधवा विवाह, नील हंगामा, स्वदेशी नाटयालयों की प्रतिष्ठा, सिपाही विद्रोह आदि यह सभी प्रकार की घटनाएँ सन् 1861 तक ही शुरू हुई थीं। अत: राष्ट्रीय-जागरण का उपयुक्त समय तथा परिवेश 19वीं सदी के षष्ठ दशक से ही सुपरिकल्पित रूप से रचित हुआ था।

राजनैतिक परिस्थिति का सुधार

बंगाल में उस समय की राजनैतिक परिस्थिति को सुधारने के लिए हिन्दूमेला नामक एक सभा का आयोजन सन् 1867 में हुआ था। राष्ट्रीय तथा देश-भक्तिमूलक संगीत के इतिहास में हिन्दूमेले का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है। क्योंकि संगीत के द्वारा भारत-चिन्ता का विकास उसी सम्मेलन से ही आरम्भ हुआ था। इससे पहले संगीत में राष्ट्रीयता का भाव नहीं था यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि 18वीं सदी की अनेक

रचनाएँ ही विलुप्त हो गई हैं। जो रचनाएँ प्राप्त होती हैं उनमें से रामनिधि गुप्त (निधुबाबू) की एक रचना का उल्लेख किया जा सकता है, जिसमें बांग्ला भाषा के लिए उनके गम्भीर अनुराग का परिचय मिलता है। जैसे -

कामोद-खमाज
"नानान् देशेर नानान् भाषा
बिना स्वदेशीय भाषा पूरे कि आशा
कतो नदी सरोबर किबा फल चातोकीर
धाराजल बिने पाने घुँचे कि तृषा।" [1]

अर्थात् - धरती में देश अनेक और भाषा भी अनेक है, परन्तु अपनी मातृभाषा के बिना कोई भी आशाएँ पूरी नहीं होती। कितनी भी नदीयाँ और जलाशय क्यूं न हो अपनी मिट्टी की जलधारा के बिना प्यास नहीं मिटती है। इस गाने में 'स्वदेश' शब्द को सुचिन्तित रूप से प्रयोग किया गया। इसमें देश की सार्विक उन्नति की चिन्ता का प्रकाश स्पष्ट तो नहीं है, परन्तु एक प्रकार के तीव्र राष्ट्र-बोध का प्रकाश मिलता है। लेखक श्री राज्येश्वर मित्र का कहना है कि, "वर्तमान शताब्दी और पिछली दो शताब्दियों में यही शायद पहला संगीत है जिसमें राष्ट्र-बोध की अभिव्यक्ति की गई है"।[2]

हिन्दू मेले का प्रधान उद्देश्य था स्वदेशी संगीत की चर्चा तथा संगीत के माध्यम से देशवासियों के मन में देश-भक्ति जागृत करना। उसकाल में परिस्थिति ऐसी हो गई थी कि भारतीय जनता अंग्रेज़ राज-शक्ति के ऊपर पूरी तरह निर्भर करने लगी थी। ऐसी परिस्थिति को सम्हालने के लिए संगीत मनीषियों ने अनेक स्वदेशी संगीत की रचनाएँ की एवं रचनाओं के माध्यम से परिस्थिति को जनता तक पहुँचाया।

उल्लेखनीय है कि सभी रचनाएँ किसी न किसी राग के आधार पर बनायी जाती थीं। भले ही रचना देश-भक्ति की क्यों न हों। उन रचनाओं में शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त तालों का ही प्रयोग होता था । राजनैतिक परिस्थिति का सुधार तथा अंग्रेज़ राज-शक्ति से देश की रक्षा करने के उद्देश्य से उन गीतों की रचना की गई थी। उन रचनाओं की प्रस्तुति के लिए हिन्दूमेले का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण था। मेले के सम्पादक गनेन्द्रनाथ ठाकुर ने इसी उद्देश्य से एक विख्यात संगीत की रचना की जिसे बहार राग और जत् ताल में निबद्ध किया गया था।

बहार-जत्

"लज्जाए भारत यश गाहिबो की कोरे
लुटितेछे परे ऐ रत्नेर आकोरे।
साधिले रत्न पाई ताहाते जतन नाई
हाराई आमोदे माति अबहेला कोरे।
देशान्तरे जगजन भूजे भारतेर धन
एदेशेर धन हाय विदेशीर तरे।
आमरा सकले हेथा हेला करी निज माता
माऐर कोलेर धन निए जाय परे" ।।[3]

अर्थात् - भारत का गुण कैसे गाऊँ लाज से गाया नहीं जाता, क्योंकि आसानी से जो धन-सम्पत्ति हमें प्राप्त होती है उसका जतन करना हम नहीं जानते हैं। विलासिता के दौरान हमारी सम्पदा को आज हम खोने को तैयार हैं। विदेशों में लोग भारत की सम्पदा का प्रयोग करते है। इस देश की धन-सम्पत्ति विदेशियों के लिए है। यहाँ हमारी देश-माता का ध्यान नहीं रख पाते, इसलिए यहाँ की सम्पदा को दूसरे देशों के लोग ले जा रहे हैं।

इस रचना के शब्दों से हमें यह जानकारी मिलती है कि उस समय बाहर से आए हुए लोग भारतीय सम्पदा को लूटकर अपने-अपने देशों में ले जा रहे थे। किन्तु इस विषय पर देशवासियों का कोई ध्यान नहीं था। इस रचना में तत्कालीन भारतीय जनता की अपने देश तथा सम्पदा के प्रति एक प्रकार के अमनोयोगी मनोभावों का परिचय मिलता है।

उस समय कुछ गीत ऐसे भी थे जो लोगों के मुह में प्रचलित थे। ऐसे गीतों के रचनाकारों का नाम प्राप्त तो नहीं होता, परन्तु उन रचनाओं से भी लोगों के मन में देश-भक्ति का उदय होता था। उस समय के कुछ सुप्रसिद्ध रचनाकारों में सत्येन्द्रनाथ ठाकुर, द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर, मनमोहन बसु आदि उल्लेखनीय हैं। मनमोहन बसु ने अनेक प्रकार की गीत रचनाएँ की हैं। जात्रा, हाफ्-आखड़ाई, पाँचाली से बाउल तथा संकीर्तन आदि सभी शैलियों में उन्होंने गीत रचना की। उनके देश-भक्ति के गीतों में तो ऐसा प्राण था कि सुननेवालों के मन में जल्द ही देश-प्रेम जाग उठता था। बाउल शैली में बान्धी हुई उनकी एक रचना यह है -

"कोथाय मा भिक्टोरिया देख आसिया
इण्डिया तोर चोलछे केमोन"।[4]

इस रचना में उन्होंनें तत्कालीन भारत का वास्तविक विवरण चित्रित किया है। विक्रमपुर (बांग्लादेश) के आनन्दचन्द्र मित्र ने उस समय अनेक स्वदेशी संगीत रचनाएँ करके देश में नव-जागरण करते हुए देश-भक्ति की भावना को जन-मानस में उद्दीप्त किया।

उस समय देश की राजनैतिक तथा अन्य परिस्थितियों को सम्हालने के लिए भारतीय संगीत मनीषीगण जिस प्रकार से प्रयास कर रहे थे उसी प्रकार साहित्यिक, काव्यकार तथा नाट्यकारों ने भी अपनी-अपनी प्रतिभाओं के माध्यम से देशवासियों को परिस्थिति समझाने का प्रयास किया। उस समय जन-मानस में राष्ट्रीय भाव जागृत करने का एक मुख्य माध्यम था नाटक। देश की परिस्थिति ही थी अधिकतर नाटकों की मूल विषयवस्तु। उन नाटकों के द्वारा विशेष रूप से स्वदेशी संगीत का ही प्रचार-प्रसार किया गया। किरणचन्द्र बैनर्जी की रचना "भारत माता का गीत" जैसे - "देखो गो मा भारतमाता तोमारी सन्तान (पहाड़ी एकताल)"[5] विशेष ख्याति अर्जित की थी। उपेन्द्रनाथ दास के 'सुरेन्द्रविनोदिनी' नाटक के एक लोकप्रिय स्वदेशी संगीत का उल्लेख भी यहाँ अनिवार्य है -

झिंझिट-मध्यमान
"हाय की तामोसी निशि भारत मुख ढाकिलो
सोनार भारत आहा घोर विषादे डुबिलो।
शोक सागोरेते भासि भारत मा दिबा-निशि
स्मरि पूर्व यशोराशि कान्दितेछे अबिरल।
के ऐखन निबारिबे जननीर अश्रुजल।।"[6]

इस रचना के द्वारा रचनाकार ने ब्रिटिश शासनकाल में देश की तत्कालीन परिस्थिति का वर्णन करते हुए भारत की करूण अवस्था को ही समझाने का प्रयास किया है।

एक और नाटक में प्रयुक्त संगीत भी यहाँ उल्लेखनीय है -

मल्हार-आड़ा

"सोनार भारत आजि यवनाधिकारे
भारत सन्तानबक्ष भासे अश्रुधारे।
ज्ञान रत्नादिर खनि सभ्यतार शिरोमणि
आजि सेई पुण्यभूमि डोबे गभीर आँधारे"।[7]

इस देश के भण्डार ज्ञान-सम्पदा, धन-सम्पदा, सभ्यता आदि से भरे हुए हैं, लेकिन बाहर की शक्ति के प्रभाव से यह पुण्यभूमि घोर अन्धकार में डुब रही है। उपरोक्त रचना में इस परिस्थिति का वर्णन किया है। ये सभी रचना 18वीं सदी से लेकर 19वीं सदी तक ही रचित हुयीं थीं। इन सभी गीतों में समयानुसार परिस्थितियों का वर्णन किया गया है। जिससे हमें देश की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति के बारे में जानकारी मिलती है। परिस्थिति को सामान्यजन तक पहुँचाने के लिए संगीत ही मुख्य माध्यम था।

इसी काल में बंकिमचन्द्र जैसे सुप्रसिद्ध रचनाकार भी हुए। बंकिमचन्द्र की अमर रचना 'वन्दे मातरम्' रचित होने के बाद यह गीत स्वदेशी संगीत की एक विशेष श्रेणी के रूप में प्रसिद्ध हुआ। परवर्ती में इस गीत ने ही राष्ट्रीय गीत की मर्यादा प्राप्त की। उनकी काव्य रचनाओं में 'आनन्दमठ' रचना भारतीय जन-संग्राम की प्रेरणा थी। रंगलाल बन्दोपाध्याय की रचना 'स्वाधीनताहीनताय के बाँचिते चाय (खमाज-कव्वाली)' अर्थात बिना स्वाधीनता के कोई जीना नहीं चाहता है। यह गीत भी सर्वजनविदित है।

अंग्रेज़ राज-शक्ति से देशवासियों की रक्षा करना तथा उनमें देश-भक्ति जागृत करना आदि के लिए संगीत मनीषियों ने यथार्थ रूप से अपना-अपना कर्तव्य निभाया। हमें जिसकी रचनाओं के शब्दों से ही जानकारी मिलती है। 19वीं सदी के अन्त से 20वीं सदी के शुरूआत तक इस क्षेत्र में जिन संगीतकारों का आविर्भाव हुआ उनमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, द्विजेन्द्रलाल राय, रजनीकान्त सेन, मुकुन्द दास, काज़ी नज़रूल इस्लाम आदि उल्लेखनीय हैं।

धीरे-धीरे समय के परिवर्तन के साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में एक प्रकार से तीव्र संग्रामी धारा प्रबल हुई थी। यह संग्रामी धारा 'चरमपन्था' (Extremism) नाम से परिचित थी। सन् 1905 में बंगभंग आन्दोलन को केन्द्रित करके ही इस संग्राम का विकास हुआ था।

इस लड़ाई ने ही देशवासियों को देश-प्रेम तथा देश-बोध के महत्त्व को समझाया था। शिक्षित देशवासियों में इस संग्राम के माध्यम से ही राजनैतिक क्षेत्र का ज्ञान हुआ था। विशेष रूप से इस संग्राम ने देशवासियों में एक प्रकार के नव-जीवन की शुरूआत की थी।

ब्रिटिश सरकार ने सन् 1905 में बंगाल प्रदेश को दो भागों में बाँटने की घोषणा की थी। इसी घोषणा ने बंगाल तथा सम्पूर्ण भारत में संग्रास के विकास का द्वार खोल दिया था। बंगाल प्रदेश का विभाजन भी अंग्रेज़ों का एक प्रकार का षड़यन्त्र था। बंगाल की जन-शक्ति को दुर्बल करना ही उनका मूल उद्देश्य था। ब्रिटिश राज का यह विचार था कि अगर बंगाल प्रदेश दो भागों में विभाजित हो जाय तो लड़ाई भी समाप्त हो सकती है, परन्तु भारत तथा बंगाल के राजनीतिविदों ने इस विभाजन का विरोध किया। धीरे-धीरे बंगाल का सामान्यजन, व्यापारी, छात्र-छात्राएँ, आईनविद तथा ज़मिन्दार आदि सभी पेशे के लोगों ने मिलकर अपने प्रदेश को विभाजन से रोकने का प्रयास आरम्भ किया। उन्हें यह शंका भी हुई थी कि यह विभाजन बंगाल की राष्ट्रीयता को दुर्बल कर सकता है एवं बांग्ला भाषा तथा बंगाली संस्कृति भी इससे विलुप्त हो सकती है। सार्वजनिक रूप से इस लड़ाई को राष्ट्रीय संग्राम कहा गया हैं। इस लड़ाई में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी एवं कृष्णकुमार मित्र ने मुख्य रूप से नेतृत्त्व प्रदान किया था। 7 अगस्त, 1905 में लड़ाई की सूचना हुई थी। उस दिन कोलकाता में एक विशाल सभा में जनता ने पूरे बंगाल की एकता को कायम रखने की प्रतिज्ञा की थी। इस विभाजन के विरोध में बंगाल के संगीत मनीषियों का भी योगदान रहा।

18वीं सदी के उत्तरार्ध में हिन्दूमेले को केन्द्रित करके जो भी राष्ट्रीय संगीत की रचना हुई थी उनमें भारत-चिन्ता तथा सम्पूर्ण भारत की पृष्ठभूमि को ही प्राधान्य दिया गया। क्योंकि कोलकाता ही उस समय भारत की शिक्षा-संस्कृति का मुख्य केन्द्र था। परवर्ती में बंगभंग आन्दोलन के समय से साहित्य, संगीत तथा सांगीतिक विचारधारा में भिन्नता दिखाई दी। प्रारम्भ में राष्ट्रीय संगीत रचनाओं में साहित्य का स्थान प्रबल नहीं था। सांगीतिक विचार-विमर्श से देखा जाता है कि अधिकतर रचनाएँ उद्दीपनामूलक जरूर थीं, परन्तु सभी रचनाएँ प्रकृत रूप से शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत थीं। रचनाएँ शास्त्रीय रागों और तालो में निबद्ध थीं एवं विलम्बित लय में गाये जाने के कारण उन गीतों से उद्दीपन तथा संग्रामी वातावरण की तैयार होती थी या नहीं यह कहना कठिन है। ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर का कहना है कि, 'मिले

सबे भारत सन्तान' इस रचना में ताल इतना विलम्बित था कि, उससे श्रोताओं के मन में कोई प्रभाव नहीं पड़ा। परवर्ती में इसी गीत को परिवर्तित सुर में गाया जाने लगा।[8] 'वन्दे मातरम्' रचना के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। मूलरूप से 18वीं सदी के उत्तरार्ध के समय में प्राचीन पद्धति का ही अनुसरण किया गया क्योंकि उस समय रचनाकार तथा गीतकार उत्तम सृजन के बारे में ध्यान रखते थे।

परवर्ती समय में प्रारम्भ के कुछ शब्द संगीत में आ गए थे। जैसे - भारत-माता, भारत-लक्ष्मी आदि नामों से देश-माता को सम्बोधित किया जाता था। भारतवर्ष का मातृस्वरूपिणी सौन्दर्य देशवासियों को अत्यधिक आनन्द प्रदान करता था एवं एक प्रकार श्रद्धा का भाव उनमें जाग उठता था। ब्रिटिश शासन के पहले भारतवर्ष में जो धन-सम्पत्ति थी उस तुलना से ब्रिटिश काल में पराधीन भारत की कठिन परिस्थिति को देखकर एक प्रबल आत्म-समालोचना के भाव ने संगीतकारों के मन को प्रभावित किया और वही भाव संगीत में भी दिखाई दिया। इसलिए मन की सभी दुर्बलता को भूलकर मानसिक शक्ति को बढ़ाने की सारी बातें संगीत में प्रयुक्त होने लगी। तत्पश्चात् कुछ अतिरिक्त सांगीतिक वैशिष्ट्य भी संगीत में जोड़ दिया गया। बंगाल के लोक-संगीत का भाव परवर्ती में देश-भक्ति के गीतों में दिखाई दिया। इस प्रकार गीत रचना के लिए सर्वप्रथम कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम लिया जा सकता है। लोक शैली में उनकी देश-भक्ति के कुछ गीत जैसे - 1. आमार सोनार बांग्ला आमि तोमाय भालोबासि 2. ओ आमार देशेर माटि, तोमार परे ठेकाई माथा 3. आमि भय करबो ना भय करबो ना आदि गीतों का उल्लेख किया जा सकता है। उन गीतों के माध्यम से देशवासियों में ममत्त्वबोध की सृष्टि हुई थी। उस समय सम्मेलक गीत का प्रचलन भी अधिक था क्योंकि धीरे-धीरे परिस्थिति ऐसी हो गई थी कि देशवासियों को एकत्रित करने के लिए उस प्रकार के संगीत की खास जरुरत थी। अत्याचारी ब्रिटिश सरकार को देश से निकालने के लिए संगीत मनीषियों ने जिस प्रकार से जनता की मानसिक शक्ति को बढ़ाया वो अतुलनीय है।

बंगाल के राजनीतिविदों के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि केवल प्रस्ताव ग्रहण सभा-समिति, क्षोभ प्रदर्शन राज-शक्ति आदि के माध्यम से ब्रिटिश राज-शक्ति को हटाना सम्भव नहीं है। इसी विचार से उन्होंने देशवासियों को यह समझाया कि विदेशी चीज़ो का

बहिष्कार करके देशी चीज़ो का इस्तेमाल करना होगा। इस विषय पर द्विजेन्द्रलाल राय के एक गीत का उल्लेख किया जा सकता है -

"मायेर देया मोटा कापड़
माथाप तुले नेरे भाई
दिन दुःखिनी मा जे तोदेर
तार बेशी आर साध्य नाई।।"[9]

इस रचना का यही भावार्थ है कि स्वदेशी चीज़े जैसी भी हो उसका ही इस्तेमाल करना चाहिए क्योंकि वो हमारी अपनी सम्पदा है। परिणाम स्वरूप भारतीय चीज़ो का इस्तेमाल बढ़ गया और इंग्लैण्ड सें आयी हुई चीज़ो का लोगों ने बहिष्कार करना शुरू किया।

अतः देशी चीज़ों का इस्तेमाल बढ़ जाने के कारण देश की आर्थिक उन्नति होने लगी। तत्पश्चात् सारे विषयों को केन्द्रित करके लोगों में लड़ाई की मानसिकता और भी जोरदार होने लगी। इस लड़ाई में बंगाल के सभी सम्प्रदायों के लोग शामिल हुए थे। धीरे-धीरे लड़ाई का वातावरण सम्पूर्ण भारत में फैलने लगा। तथा भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नए अध्याय का शुरूआत हुआ। देशवासियों को स्वाधीनता की भावनाओं के आधार पर सम्मिलित करने का यही सही समय था। इस परिस्थिति के आधार पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'एकसूत्रे वाँधियाछि सहस्रटि मन' (भावार्थ : समग्र भारतवासियों में एक ही मानसिकता का विकास हुआ) गीत ने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इस परिस्थिति में स्वदेशी सम्मेलक गीतों का भी एक नया रूप दिखाई दिया था। रवीन्द्रनाथ, द्विजेन्द्रलाल आदि कवियों को पाश्चात्य संगीत का ज्ञान था। उन्होंने सम्मेलक गीतों को अधिक प्रभावी बनाने के लिए उसमें पाश्चात्य संगीत शैली का मिश्रण किया। जिससे उसमें एक प्रकार की वरिष्ठ भावानुभूति का प्रस्फुटन हुआ। रजनीकान्त, अतुलप्रसाद आदि कवियों ने भी संग्रामी गीतों में इसी शैली का अनुसरण किया। कवि गोविन्ददास का विख्यात 'स्वदेश' कविता जैसे -

"स्वदेश स्वदेश करछो कारे
ऐदेश तोमार नय
ऐई यमुना गंगानदी
तोमार इहा होतो जदि
परेर पण्ये गोरा सैन्ये
जाहाज केनो वय ?"[10]

इस कविता को संगीतमय रूप दिया गया था। इस कविता के माध्यम से देशवासियों को यह कहा गया है कि स्वदेश तथा अपना देश क्यों कहते हो? यह देश तुम्हारा नहीं है। यह यमुना, गंगा आदि नदीयाँ अगर तुम्हारी ही होती तो विदेशी सामग्री तथा अंगेज़ सैनिकों से जहाज़ क्यों भरे हुए हैं? इस कविता में पराधीनता का भाव स्पष्ट है। उस समय सभी सभा-समितियों में इस प्रकार के गीतों का गायन होता था। अश्विनी दत्त नामक प्रसिद्ध रचनाकार की प्रेरणा से मुकुन्द दास ने अपनी जात्रापाला तथा गीतों में भी संग्रामी वातावरण का प्रकाश डालना आरम्भ किया था। उनसे पहले जात्रा के माध्यम से राष्ट्रीय बोध जागृत करने का प्रयास नहीं किया गया था। उनका जन्म सन् 1878 में हुआ। वे गायक, कवि, अभिनेता के अतिरिक्त एक उच्चकोटि के वक्ता भी थे। 19वीं सदी के अन्त तथा 20वीं सदी के प्रारम्भ में जो परिस्थिति बिराजमान थी उसी के परिप्रेक्ष में उनकी जात्रापाला में संग्रामी वातावरण का प्रकाश मिलता है। मुकुन्द दास ने अपने जात्रादल को लेकर देश के कोने-कोने में भ्रमण कर जात्रापाला तथा संगीत के माध्यम से देशवासियों को परिस्थिति समझाने तथा उनके मन को देश-भक्ति से ओत-प्रोत करने का जोरदार प्रयास करते थे। उनके नाटकों को उपभोग करने के लिए समाज के सभी सम्प्रदायों के लोग सम्मिलित होते थे। उनके नाटक तथा संगीत देशवासियों में प्रबल देश-भक्ति जागृत करने में अधिक सहायक हुई। जनता ने उनको 'जातीय जागरण का प्रगाता' उपाधि प्रदान किया था। उस काल में ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत की सभी महत्त्वपूर्ण सामग्री इंग्लैण्ड में भेजी जाती थी। भारतवासी उन सामग्रियों का उपयोग नहीं कर पाते थे। इस विषय पर उनकी रचना -

स्वदेश स्वदेश करिस तोरा
स्वदेश तोदेरे कारूर नय
स्वदेश जोदि तोदेर होतो
विदेश केनो चालान जाय ? [11]

इस गीत के माध्यम से भारतवासियों के प्रति उनका यह कहना था कि तुम लोग भारतवर्ष को अपना देश मानते हो परन्तु यह देश तुम्हारा नहीं है। यदि तुम्हारा ही होता तो भारत की सभी महत्त्वपूर्ण सामग्री क्यों विदेशों में भेजी जाती है? उनका संग्रामी संगीत बहुत लोकप्रिय हुआ था। वे परिस्थिति के अनुसार नाटक तथा गीतों को जिस प्रकार से प्रस्तुत करते थे उससे दर्शक-श्रोताओं के मन देश-प्रेम से उभर उठता था एवं ब्रिटिश राज-शक्ति को देश से

निकालने के लिए उनमें वीर मनोभावों की प्रतिक्रिया होती थी। उदाहरण के लिए उनके एक गीत का उल्लेख किया जा सकता है -

भय की मरोने राखिते सन्ताने
मातोंगी मेतछे आज समोर रंगे
ता थै ता थै थै, द्रिमि द्रिमि द्रं द्रं
भूत पिशाच नाचे जोगिनी संगे।
दानव दलोनी होये उन्मादिनी
आर की दानव भाकिबे बंगे
साजोरे सन्तान हिन्दू-मुसलमान
भाके भाकिवे प्राण, ना हय जाईबे मान
लईये कृपाण हवरे आगुपान
निते हय मुकुन्देरे नियोरे संगे।।[12]

अपनी सन्तानों की रक्षा करने के लिए देश-माता आज युद्ध करने को तैयार है। उन्हें कोई डर नहीं। देश में भूत-पिशाच आज 'जोगिनी के साथ नृत्य कर रहे हैं। दानव ध्वंसकारिणी उन्मादिनी तथा बावरी हो गई है। अतः बंग (बंगाल प्रदेश) में दानव गोष्ठी और नहीं रह सकती। रचनाकार ने यहाँ हिन्दू-मुसलमान सभी सम्प्रदायों के लोगों को संग्राम के लिए आह्वान किया है। इस रचना के समयानुसार यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के गीतों के माध्यम से उस समय भारतीय जनता में देश रक्षा का मनोभाव पूर्ण रूप से तैयार हो चुका था।

बंगभंग के बाद जो स्वदेशी गीतों की रचना हुई थी उनके गीतरचनाकारों में काज़ी नज़रूल इस्लाम अन्यतम थे। उनकी रचनाएँ मूलतः अत्याचारी अंग्रेज़ सरकार के विरूद्ध थीं जिनको सुनते ही भारतीय जनता में मुक्ति की इच्छा जाग उठती थी। अंग्रेज़ सरकार के विरूद्ध विद्रोहमूलक रचना के लिए उन्हें 'विद्रोही कवि' कहा गया। उनके विद्रोहमूलक गीतों से अनुप्राणित होकर बंगाल की जनता पराधीनता से मुक्त होने के लिए अंग्रेज़ों के विरूद्ध लड़ाई में एकत्रित हुई। तत्पश्चात् सम्पूर्ण भारतवासी इसी उद्देश्य से शामिल होकर लड़ने लगे। अंग्रेज़ सरकार के विरूद्ध संगीत रचनाओं के कारण उन्हें कई बार कारागार में भी जाना पड़ा। फिर भी उन्होंने विद्रोहमूलक रचनाओं का सृजन नहीं छोड़ा। कारागार में उन्होंने अनेक संगीत रचनाएँ कीं उनमें एक विख्यात रचना है -

"कारार ओई लौह कपाट
भेंगे फेल करने लोपाट
रक्तो जमाट शिकल पूजोर पाषाण बेदी
ओरे ओ तरूण ईषाण
बाजा तोर प्रलय बिषाण
ध्वंस निषाण उड़ुक प्राचीर-प्राचीर भेदी"।[13]

इस रचना में कवि के विद्रोही मनोभाव का पूर्ण परिचय मिलता है। यहाँ कवि ने ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध क्रुद्ध होकर कारागार में बन्दी जनता को कारागार के दीवार तोड़कर अत्याचारी ब्रिटिशों के विरूद्ध लड़ाई में शामिल होने का आह्वान किया है।

राजनैतिक परिस्थिति के वर्णन के अन्त में यह कहा जा सकता है कि 18वीं सदी के उत्तरार्ध से लेकर 20वीं सदी के उत्तरार्ध तक ब्रिटिश राज-शक्ति से देश और देशवासियों की रक्षा करने के लिए अन्य क्षेत्र के मनीषियों के साथ संगीत मनीषियों ने भी पूर्ण रूप से प्रयास किया। यहाँ 'हिन्दूमेले' एवं बंगभंग ये दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन शब्दों के द्वारा भारतीय राजनीति के दो काल एवं देश-भक्ति तथा संग्रामी संगीत रचनाओं के दो युगों को समझा जा सकता है। इस हिसाब से हिन्दूमेले के समय को प्रथम एवं बंगभंग को द्वितीय युग कहा जा सकता है। देश की उन्नति हिन्दूमेले का मुख्य उद्देश्य था। देश-भक्ति तथा संग्रामी संगीत रचनाओं के इतिहास में हिन्दूमेले का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। क्योंकि राष्ट्रीय तथा देश-भक्तिमूलक गीतों का प्रसार इस सम्मेलन से ही आरम्भ हुआ था। सभी सम्प्रदायों के लोग समझ सकें, इस विषय को ध्यान में रखकर सरल भाषा में उन गीतों की रचना की जाती थी तथा रागों के आश्रय से ही संगीत बनता था। राष्ट्रीय बोध का विकास, आत्मकल्याण तथा समाज चेतना ही था उन रचनाओं का मूल विषय।

तत्पश्चात् बंगभंग के समय से लेकर स्वाधीनता प्राप्ति तक जितने भी रचनाकारों ने देश-भक्ति तथा संग्रामी गीतों की रचना की, उनमें अधिकतर मुक्ति की तैयारी, प्रतिरोध की मानसिकता तथा साम्प्रदायिक एकता आदि विषयों को ही प्रधानता दी गई। इस लिए उन गीतों में मार्चपास्ट की शैली तथा उद्दीपन का भाव अधिक देखा जाता है। समय के अनुसार निवेदन को प्रस्फुटित करने के लिए सिर्फ देशी संगीत शैली से ही नहीं, बल्कि पाश्चात्य संगीत शैली का भी प्रयोग किया गया।

प्रारम्भ में उँचे श्रेणी के लोग ही राजनीति और समाजनीति के साथ देश-भक्तिमूलक गीतों की अभ्यास करते थे। किन्तु परवर्ती समय में यह भावधारा बदल चुकी थी एवं शहर से लेकर गाँव-गाँव तक उन गीतों का प्रचार-प्रसार होने लगा था, ताकि सम्पूर्ण देशवासियों के मन में एकता का बोध जागृत हो सके और देशवासियों को स्वाधीनता के लिए उत्साहित कर सके। इस प्रकार से बंगाल के संगीत द्वारा सम्पुर्ण भारतवर्ष के लिए राष्ट्रीय बोध और जातीय भाव प्रतिष्ठा की तैयारी प्रकृत रूप से इन्हीं दो समय कालों में विधिवत् रूप से सम्पन्न हुई थी।

2. सामाजिक परिस्थिति

समाज संस्कृति का सम्बन्ध

प्रकृति ने विश्व को जो रूप-रेखा दी है, उसमें उँचे पर्वत, घने जंगल, घास के मैदान, हिमप्रदेश, नदियाँ, मरूप्रदेश और विविध कोटि के छोटे-बड़े प्राणी हैं। यही विश्व का नैसर्गिक रूप है। ऐसी प्रकृति के बीच मानव को छोड़कर अन्य असंख्य प्राणी भू-गर्भ में अपने रहने के लिए मिट्टी, तृण, पत्ते, लकड़ी की टहनीयों आदि से घर बनाते आए हैं। अपना भोजन प्राप्त करने के लिए ये प्राणी अपने आस-पास की वस्तुओं पर अवलम्बित रहें हैं। जिस रूप में जिस वस्तु को पाया, उसी को अपना जीवन और अस्तित्त्व रखने के लिए अपना लिया। यही प्राकृतिक जीवन का विधान रहा है, परन्तु उनकी आवश्यकता केवल प्रकृति-प्रदत्त भोजन और घर से पूरी होती रही है। अपने भोजन को आग पर पकाना, उसमें नमक-मिर्च मिलाना मानवेतर प्राणियों ने नहीं सीखा और न अपने घरों के लिए ईंट पकाई।

कल्पना करें, संसार में अगर मानव न होता तो इसकी रूप-रेखा क्या होती? जहाँ आज लहलहाते खेतों के मैदान हैं, सुरम्यकारों के दौड़ने के लिए चिकनी सड़क है, नगरों में उँचे भवन हैं। गगन चुम्बी महावृक्षों के अरण्य जिनके बीच भू-तल पर सिंह का गर्जन और वृक्षों के शिखर पर पत्तियों का राज्य। उस परिस्थिति में कुछ भी तो न होता जिस पर मानव का हाथ लगाना आवश्यक है। प्रकृति अपनी सर्वोच्च गौरवशालिनी और ऐश्वर्यमयी विभुतियों से सम्पन्न होती। उपयुक्त कल्पना-जगत का सफल चित्रण अब भी अंशतः किया जा सकता है। यदि हम उन प्रदेशों को देखें, जहाँ मानव की पहुँच प्रायः नहीं हो सकी है या जिन्हें मानव

ने परिस्थितियों के वश होकर अभी तक अपनी उपयोगिता की वस्तुओं का अनुसन्धान करने के लिए अपना कार्यक्षेत्र नहीं बनाया है। हिमालय की मेखला के बनराजि, आफ्रिका की मरूभूमि तथा दक्षिण अमरीका के अरण्य विश्व की प्राकृतिक रूप-रेखा के स्मारक स्वरूप विराजमान है।

मानवीय संस्कृति के आरम्भ के पहले विश्व की रूप-रेखा वही थी जिसका परिचय देने का प्रयास उपयुक्त पंक्तियों में किया गया है। मानवीय संस्कृति के आरम्भ से ही विश्व को नित्य-नूतन रूप दिया जाने लगा। समाज और संस्कृति यह दो शब्द एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हुए है कि किसी एक को छोड़कर चर्चा करना मुशकिल प्रतीत होता है। जब समाज की चर्चा करना है, तो उसमें संस्कृति और संस्कृति की चर्चा करनी है, तो अपने आप उसमें समाज जुड़ जाता है। आदिम युग से मनुष्य ने जब एक साथ रहना आरम्भ किया तब से धीरे-धीरे समाज की सृष्टि होने लगी और मानव जाति अपनी जरूरत के लिए स्वाभाविक रूप से ही सामाजिक नियम शृंखला तथा बन्धनों में बन्धने लगी। इस प्रकार क्रमानुसार मनुष्य समाज का निर्माण करना आरम्भ किया एवं प्राचीन काल से युगों के परिवर्तन के साथ-साथ आदिम मनुष्य के सृष्ट समाज में होता रहा परिवर्तन तथा परिशोधन। आज जिस समाज व्यवस्था को हम देखते है वो उसी आदिम मानव जाति के सृष्ट समाज व्यवस्था का ही परिष्कृत रूप है। और संस्कृति के विषय में कहा जाए तो किसी देश की आध्यात्मिक, सामाजिक और मानसिक विचारधारा को उस देश की संस्कृति माना जाता है। संस्कृति शब्द बहुत ही व्यापक है। संस्कृति शब्द में देश के धर्म, साहित्य, रीति-रिवाज, परम्पराओं, सामाजिक संगठन आदि सबका, आध्यात्मिक और मानसिक तत्त्वों का समावेश होता है। इस सब के समुदाय का नाम संस्कृति है। फिर भी सब लोग इसका कुछ न कुछ अर्थ समझकर ही प्रयोग करते हैं, तो भी प्रायः निर्विवाद रूप से इतना कहा जा सकता है कि -

> ***"कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्नजीवन व्यापारेषु सामाजिकसम्बन्धेषु वा मानवीयत्वदृष्टया प्रेरणाप्रदानां तत्त्वदादर्शनां समष्टिरेव संस्कृति....। वस्तुतस्तस्थामेव सर्वस्यापि सामाजिकजीवनस्योत्कषः पर्यवस्यति। तथैव तुलया विभिन्नसभ्यनानामुत्कर्षापकर्षौ मीयेते। किं बहुना, संस्कृतिरेव वस्तुतः "सेतुर्विधतिरेषां लोकानामसंभेदाय" (छान्दोग्योपनिषद 8/4/1) इत्येवं वर्णयितुं शक्यते। अत एव च सर्वेषां धर्माणां सम्प्रदायानामाचाराणां च परस्परं समन्वयः संस्कृतेरेवाधारेण कर्तुं शक्यते"।***[14]

इसका अभिप्राय यही है कि किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन व्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करनेवाले तत्तद आदर्श की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिए। समस्त सामाजिक जीवन का परमोत्कर्ष संस्कृति में ही होता है। विभिन्न सभ्यताओं का उत्कर्ष तथा अपकर्ष संस्कृति द्वारा ही मापा जाता है। उसके द्वारा ही समाज को सुसंघटित किया जाता है। इसलिए संस्कृति के आधार पर ही विभिन्न धर्म सम्प्रदायों और आचारों का समन्वय किया जा सकता है।

अंग्रेज़ों में संस्कृति शब्द के लिए कल्चर (Culture) शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसके विपरीत देश की आर्थिक और अन्य बाह्य विचारधारा के लिए सभ्यता (Civilization) शब्द का प्रयोग होता है। सभ्यता शब्द अंग्रेज़ी के Civilization शब्द का पर्यायवाची बन गया है। संस्कृति शब्द के लिए सामान्य रूप से धर्म शब्द का प्रयोग किया जाता था और जिसे वर्तमान भाषा में सभ्यता कहते है, उसका अन्तर्भाव 'अर्थ' शब्द में था, परन्तु समय के साथ-साथ 'धर्म' और 'अर्थ' इन दोनों शब्दों का प्रयोग संकुचित होता गया। धर्म केवल विश्वास और कर्म का पर्यायवाची रह गया और 'अर्थ' धन-सम्पत्ति तक परिमित हो गया।

यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि संस्कृति और देश की भौगोलिक सीमाएँ सदा ही एक जैसी ही नहीं रहती। देश की भौगोलिक सीमाएँ राजनैतिक कारणों से बदलती रहती हैं, लेकिन सांस्कृतिक एकता शताब्दियों और युगों तक विद्यमान रहती है। वह जाति के सामाजिक जीवन का स्थायी भाव है। भारत में धर्म एवं भाषाएँ अनेक हैं, और राज्य भी अनेक हैं। अलग-अलग राज्यों में समाज-व्यवस्था तथा सामाजिक कार्यक्रम, आचार-व्यवहार आदि भिन्न-भिन्न पाए जाते हैं, परन्तु एकता का आधार एक संस्कृति ही है। वही संस्कृति भारतीय जाति की एकता और महत्त्व का मुख्य आधार है। इस संस्कृति की विशेषता यह है कि उसका प्रवाह कहीं टूटा नहीं। भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ बहुत ही प्राचीन भूतकाल में हुआ था। तब से अब तक उस पर अनेक प्रकार के प्रभाव पड़े हैं, और आघात भी पहुँचे हैं, परन्तु वे उसके प्रवाह को तोड़ने में सफल नहीं हुए। जैसे कोई बड़ी नदी अनेक छोटी नदीयों और नालों के पानी को अपने में समेटती हुए बहती चली जाती है, वैसे ही भारतीय संस्कृति की धारा निरन्तर चलती गई है। वह कहीं टूटी नहीं।

भारत में पाश्चात्य संस्कृति का जोर

चारों और से दबाये जाकर भारतीय समाज ने जो पहला प्रयत्न किया, वह सन् सत्तावन के विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ। कुछ इतिहास लेखकों ने उसे सिपाही विद्रोह माना हैं। कुछ ने उसका कुछ अधिक व्यापक रूप मानते हुए उसे एक असफल राजनैतिक विद्रोह कहा है, परन्तु यदि सब परिस्थितियों और घटनाओं पर विचार करें तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि, उसके मूल कारणों में मुख्यतया सांस्कृतिक कारण ही थी।

सन् 1957 के विद्रोह का मूल कारण क्या था? जिन सिपाहियों ने मेरठ छावनी में विद्रोह का झण्डा खड़ा किया, उनकी कोई विशेष महत्त्वाकांशा नहीं थी। उनके विद्रोह का प्रेरक कारण यह था कि बन्दुको के प्रयोग से धर्म भ्रष्ट होने का सन्देह हो गया था, यह कोई राजनैतिक कारण नहीं था।

यह ठीक है कि बादशाह, राजा या नवाब अपने-अपने राजनैतिक स्वार्थों को लेकर विद्रोह में शामिल हुए, परन्तु सिपाहियों या आम जनता में से जिन्होंने विद्रोह में भाग लिया उन्हें प्रेरणा देनेवाले कारण राजनीति के अरिरिक्त थे। उनमें ईसाई और अंग्रेज़ों के अन्य आचार-व्यवहार, सरकार की आर्थिक मनोवृत्ति और मानसिक भेद भी सम्मिलित थे। इस कारण यदि हम यह कहे कि वह विद्रोह जितना राजनीतिक था उससे अधिक या कम से कम उतना सांस्कृतिक था, तो अत्युक्ति नहीं होगी। वह संगठित नहीं था और स्पष्ट लक्ष्य को सामने रखकर नहीं किया गया था। वह भारतीय संस्कृति का वैसा शारीरिक उत्थान था, जैसा निद्रा की दशा में कोई आघात आने पर उत्पन्न होता है। वह उत्थान अर्धचेतन कहा जा सकता है, परन्तु था आत्मरक्षा का प्रयत्न ही। यह प्रयत्न निष्फल हो गया और उसके पश्चात् भारत पर इंग्लैण्ड का शासन नया रूप धारण करके अवतीर्ण हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को समाप्त करके महारानी विक्टोरिया ने शासन अपने हाथ में ले लिया। उस समय विक्टोरिया ने अपनी वह घोषणा प्रकाशित कि, जिसमें भारतवासियों से प्रतिज्ञा कि गई थी कि उनके साथ वही सलूक किया जाएगा, जो अंग्रेज़ों के साथ किया जाता है। और सब धर्मों की समान रूप से मान रक्षा की जाएगी। इस घोषणा ने अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतवासियों के हृदयों को मोह लिया और उनके हृदय पश्चिम की ओर खिंचने लगे।

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY M.S. University of Baroda

अन्य भी कई कारण हुए जिनसे देशवासियों का सम्पर्क और खिंचाव पश्चिम की ओर बढ़ने लगा। सिविल सर्विस की परिक्षायें विलायत में होती थीं। देश के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे नवयुवकों को उँची सरकारी नौकरी का प्रलोभन विलायत की ओर आकृष्ट करने लगा। वहाँ जाकर वे पश्चिम की सभ्यता और संस्कृति के स्पर्श में आए और देश वापस लौटने के बाद उनकी वेश-भूषा खान-पान का ढंग पश्चिम जैसा ही होने लगता था। अंग्रेज़ो का अनुकरण अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतवासी अक्सर करते थे। तब स्वाभाविक ही था कि उनका अनुकरण आम प्रजा भी करती। इस प्रकार नई राज्य व्यवस्था में भारतीय समाज-संस्कृति पर पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव अधिक बढ़ गया था। सन् 1858 से लेकर लगभग 25 वर्ष तक भारत पर पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव बिना किसी रूकावट से बढ़ता गया। अत: यह प्रभाव संगीत में भी दिखाई देना स्वाभाविक था। संगीत मनीषियों में अनेक गुणी ही अपनी संगीत रचनाओं में पाश्चात्य शैली का प्रयोग करने लगे और वहाँ के वाद्ययन्त्रों में भी भारतीय संगीत का वादन सफलता के साथ होने लगा।

भारतीय संस्कृति की चर्चा में देखा जाता है कि : इस संस्कृति में एक असाधारण दृढ़तापूर्ण लचीलापन है। वह बाहर से आनेवाले प्रहार के सामने पहले थोड़ा सा दब जाती है, परन्तु टूटती नहीं और अन्त में बड़े ज़ोर से प्रतिक्रिया करती है। पाश्चात्य सभ्यता के आक्रमण के सामने एक बार तो भारत की सम्पूर्ण संस्कृति जिसमें राज्य, धर्म और भाषा सभी कुछ सम्मिलित था, दबती और लुप्त होती सी प्रतीत हुई, परन्तु यह दशा देर तक न रहीं। पाश्चात्य सभ्यता के आगे बढ़ते हुए प्रवाह के सामने 16वीं सदी के आरम्भ से ही चट्टाने खड़ी होनी शुरू हो गई थीं। राजा राममोहन राय ने सन् 1820 में ही ईसाई पादरियों के बढ़े-चढ़े निर्मूल दावों को निर्मूल सिद्ध करने के लिए कलम उठाई और उपनिषदों तथा अन्य शास्त्रों की ओर देशवासियों का ध्यान खींचा। उसके पश्चात् लगभग सवासौ वर्षों तक देश में निरन्तर ऐसे विद्वान पथप्रदर्शक और सुधारक होते रहे जिन्होंने देश की संस्कृति की रक्षा करके उसकी स्वाधीन सत्ता को बचा लिया।

समाज-संस्कृति तथा संगीत में सुधार

पाश्चात्य देशों की प्रचलित आधुनिक संस्कृति के साथ परिचित होने के बाद भारत में एक नई चेतना का उद्‌भव हुआ। पश्चिमी जाति की भारत विजय से भारतीय समाज के दोष-गुण तथा पतन का चित्र भी स्पष्ट होने लगा। उस समय देश के चिन्तनशील मनीषीगण उनके अपने समाज के दोषों की विवेचना के साथ-साथ सभी समस्याओं से समाज की रक्षा करने के उपायों को ढूण्डने लगे। उनका यह अनुभव हुआ था कि पाश्चात्य जगत की आधुनिक भावधारा की सहायता से ही भारत का सामाजिक ओर सांस्कृतिक पूनर्जीवन सम्भव होगा।

सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जागरणों के लिए भी यहाँ राजा राममोहन राय का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। समाज-संस्कार के क्षेत्र में उनको ही हम पहला मार्गप्रदर्शक कह सकते है। भारतीय दर्शन के लिए उनका गम्भीर अनुराग था। फिर भी उन्हें यह विश्वास था कि पाश्चात्य सोच-विचार और संस्कृति ही भारतीय समाज को पूनर्जीवन दे सकता है, जो भारतीय दर्शन की सहायता से सम्भव नहीं है। वह चाहते थे कि देसवासी युक्तिवादी हो और वैज्ञानिक मानसिकता से परिचालित हों। सन् 1814 से उन्होंने कोलकाता में जब स्थायी रूप से अपना जीवन शुरू किया तब कुछ नवीन बालकों ने उनके दर्शन से आकृष्ट होकर उनके साथ ही संस्कारमूलक कार्यक्रमों को आरम्भ किया। उन बालकों की सहायता से उन्होंने एक सभा का गठन किया, जो 'आत्मीय सभा' के नाम से प्रचलित थी। उस सभा के माध्यम से ही उन्होंने बंगाल के समाज में व्यापक रूप से प्रचलित धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक कु-प्रथाओं के विरोध में अविराम संग्राम चलाया। खास करके उन्होंने मूर्ति-पूजा, जातिभेद प्रथा, सतीदाह प्रथा, स्त्री जाति की हीन अवस्था आदि विषयों को समाज से हटाने के लिए तथा कु-संस्कारों से समाज को मुक्त करने के लिए अपना जीवन विसर्जित किया।

अतः समाज से कु-प्रथाओं को दूर करने के लिए तथा आधुनिक शिक्षा के विस्तार के लिए जिन विशिष्ट व्यक्तियों ने सबसे पहले कदम उठाया उनमें राजा राममोहन राय ने मुख्य भूमिका निभाई। "सन् 1817 में डेवीड हेयर नाम के एक व्यक्ति ने इतिहास विख्यात

"हिन्दू कॉलेज" की प्रतिष्ठा की एवं बंगाल प्रदेश की शिक्षा की उन्नति वहाँ से ही आरम्भ हुई थी"।[15] 18वीं सदी के अन्त में वे इंग्लैण्ड से भारत आये और उम्रभर भारत में ही रहकर आधुनिक शिक्षा-विस्तार के लिए अपने जीवन को समर्पित किया। सबसे पहले डेवीड हेयर को भारतीय उन्नतिमूलक कार्य के लिए राजा राममोहन राय से ही सहायता मिली थी। "सन् 1825 में राममोहन राय ने वेदान्त शिक्षा के लिए एक स्कूल का निर्माण किया, जिसमें भारतीय ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा के लिए भी व्यवस्था की गई थी"।[16]

अतः भारत में पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के प्रसार के लिए डेवीड हेयर के 'हिन्दू कॉलेज' और राममोहन राय के वेदान्त शिक्षालय का महत्त्वपूर्ण योगदान है। फिर भी, बांग्ला भाषा को अधिक आगे बढ़ाने और भारत में इस भाषा को सबसे उँचे स्थान पर बैठाने के लिए राममोहन राय की अधिक ईच्छा थी, उसी सोच पर उन्होंने एक बांग्ला व्याकरण की भी रचना की थी। सिर्फ इतना ही नहीं राजनैतिक व्यक्तित्त्व, समाजकर्मी आदि के साथ-साथ वे एक संगीतज्ञ भी थे। उस काल के समाज में सांगीतिक रूचि की उन्नति के लिए उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। यहाँ बताना जरूरी है कि, "उन्होंने 20 अगस्त, 1828 में एक समाज की प्रतिष्ठा की थी जो 'ब्राह्मसमाज' नाम से परिचित हुई"।[17] ब्राह्मसमाज का मुख्य उद्देश्य था समाज में सांगीतिक उन्नति का विधान करना। क्योंकि उस समय संगीत अपने मर्यादापूर्ण स्थान से हटकर आमोद-प्रमोद तथा विलास की वस्तु बन गया था। 18वीं सदी के उत्तरार्ध में जब संगीत में नयी चेतना का जागरण हुआ तब बंकिमचन्द्र प्रवर्तित साहित्य चेतना जागृत नहीं हुई थी। बंकिमचन्द्र की साहित्य सृष्टि बहुत ही उच्च मान-सम्पन्न थी। लेकिन बंगाल के संगीत-साहित्य एवं संगीत-कला का नया रूपायण बंकिमचन्द्र के साहित्य जगत में आगमन के पहले ही सम्पन्न हुआ था। बंकिमचन्द्र के जन्मकाल में बंगाल के संगीत, साहित्य का एक युग अन्त होने को चला। बंकिम के पूर्ववर्ती सभी संगीतज्ञ एवं रचनाकार शिक्षित थे। उस समय में संगीत, साहित्य की दृष्टि से उच्च स्थान पर था।

बंगाल के अनेक संगीत ग्रन्थों के अनुसार, "18वीं सदी का सांगीतिक इतिहास बहुत ही अपूर्ण है। उस समय को मंगल-काव्य का अन्तिम युग माना जाता है। उस सदी की मूल सांगीतिक वस्तु थी पयार"।[18] बड़े-बड़े पयार से निबद्ध काव्य समूह एक ही सुर में गाये

जाते थे। छोटी-छोटी जो भी रचना होती थी, उसमें भगवान का गुण-कीर्तन ही मूल विषय वस्तु था। उन रचनाओं में काव्य का स्पर्श नहीं रहता था। 18वीं सदी के उत्तरार्ध से इन्हीं पयार के स्थान पर छोटे-छोटे लिरिक की रचनाएँ शुरू हुई उस समय के एक गुणी संगीतज्ञ रामनिधि गुप्त (निधुबाबू) के द्वारा। उन्होंने बंगाल के काव्य-संगीत को केवल आधुनिक ही नहीं बनाया बल्कि उसमें सुर एवं विस्तार का समन्वय भी किया। उनके संगीत में काव्य के आश्रय से ही रागों का विकास होता था। वे रागों का प्रयोग रागदारी को समझने के लिए नहीं करते थे। काव्य की वाणी को सुन्दर और कोमल रूप देने के लिए राग अपने आप ही उनके संगीत में एक प्रमुख स्थान बना लेता था। उनका संगीत ही सर्वप्रथम बांग्ला गीत था, जो भारतीय राग-संगीत को स्वीकार करके भी सम्पूर्ण रूप से अलग और स्वतन्त्र शैली के एक प्रकार देशी संगीत के रूप में विकसित हुआ। उनकी गीत शैली को बंगाल में 'निधुबाबूर टप्पा' (निधुबाबू के टप्पे) कहा जाता है। उनकी अधिकांश रचनाएँ ख्याल शैली में है और उसमें सामान्य रूप से पंजाबी टप्पे के अलंकारों का मिश्रण है। वे पंजाबी टप्पे की शैली से अपनी बांग्ला रचनाओं को मधुरता के साथ साहित्यिक विचारधारा से प्रस्तुत करते थे। उनका संगीत ज्यादातर प्रेम-संगीत का पर्याय था।

संगीत-कला और संगीत का सौन्दर्य-तत्त्व ये दो तत्त्व को वे अधिक महत्त्व देते थे। समाज में सांगीतिक रूचि की उन्नति करने के लिए उन्होंने संगीत को साहित्य के द्वार तक पहुँचाने का प्रयास किया। उनके समय के प्रसिद्ध संगीतकारों में कालीदास चट्टोपाध्याय, श्रीधर कथक, राधामोहन सेन, आदि गुणियों ने भी सांगीतिक उन्नति का कार्य किया। परन्तु तत्कालीन समाज के लोग उन संगीतकारों की योग्यता को समझ नहीं पाए। उस काल के सामान्यजन एवं प्रभावशाली व्यक्तिवर्ग संगीत को आमोद और भोग-विलास की वस्तु ही समझते थे। इसलिए उत्तम सृजन का जो सम्मान संगीतकारों को मिलना चाहिए था वो उन्हें नहीं मिला। प्राचीन संगीतकारगण अधिकतर टप्पे शैली से रचित प्रेम-संगीत को ही ज्यादा महत्त्व देते थे। उस शैली के साथ मिलावट हुई खेउड़ पाँचालि के गीत शैली से एवं क्रमानुसार इस प्रकार के संगीत का प्रचार-प्रसार समाज के निम्न श्रेणी के लोगों में होने लगा, परन्तु शिक्षित व्यक्तिवर्ग के सोच-विचार तथा उनका समाज अलग था। वे उस प्रकार के संगीत को नफ़रत की दृष्टि से देखते थे। क्योंकि उस शिक्षित समाज के लोग सामाजिक

दृष्टिकोण से ही संगीत का विचार करते थे। यह भी सत्य है कि, उस उँची श्रेणी के लोग उनके पहले जमाने तथा उनके समय के संगीत को यथार्थ रूप से मर्यादा देने में भी असमर्थ थे। रामनिधि गुप्त के समय अधिक चिन्ताशील व्यक्तियों का अविर्भाव नहीं हो रहा था। इसी कारण से संगीत एक आवरण में रहकर क्रम से विलीन होता जा रहा था। उस परिस्थिति में रामनिधि गुप्त ने पश्चिमी टप्पे की शैली से बांग्ला भाषा में संगीत रचनाएँ कीं। एवं वे बंगाल के संगीत-जगत में एक विशेष प्रकार की गीत शैली को जन्म देने में समर्थ हुए। किन्तु परवर्ती में ऐसा कोई चिन्ताशील संगीतकार न होने के कारण बांग्ला टप्पें सुगम संगीत के अन्तर्गत ही रह गए।

उसके बाद परिस्थिति ऐसी हो गई थी कि प्राचीन संगीतकारों को उनकी सही मर्यादा प्राप्त तो हुई ही नहीं वरन् जो भी संगीतकार उनका अनुसरण कर रहे थे, वे संगीत को ऐसे स्थान पर ले गए की संगीत सिर्फ बाबू-समाज एवं धनाढ्य सम्प्रदायों के लोगों के मनोरंजन का विषय हो गया था। कवि गान एवं पाँचाली गीतों के कुछ प्रकार जो प्रेम तथा प्रेमियों से जुड़े हुए शब्द प्रयोग के द्वारा गाये जाते थे उससे ही श्रोता भरपूर आनन्द प्राप्त करते थे, परन्तु उच्च श्रेणी के संगीतकारों ने इस प्रकार की संगीत शैली को पसन्द नहीं किया। इस परिस्थिति को ठीक करने का प्रयास ब्रह्मसंगीत के माध्यम से ही शुरू हुआ था। अतः उस काल के बांग्ला गीतों को नयी राहों का सन्धान संगीतकारों की सांगीतिक विचार-धारा के द्वारा प्राप्त नहीं हुआ था। इसका मुख्य कारण था सामाजिक आन्दोलन। उस आन्दोलन की शुरूआत की थी ब्राह्मसमाज के प्रतिष्ठाता राजा राममोहन राय ने। ब्रह्मोंपासना में उन्होंने संगीत की आवश्यकता को अनुभव किया। उपनिषद पाठ के साथ जिस प्रकार के संगीत का उपयोग होता था वो उनके मन को उतनी शान्ति प्रदान नहीं कर पाया। अनेक गुणी व्यक्तियों के संगीत उन्होंने सुना था, लेकिन ऐसे कोई संगीत का सन्धान उनको नहीं मिला जो उपनिषद जैसे गम्भीर एवं ज्ञानदायक विषय के लिए उपयुक्त हो।

राममोहन एक संगीतकार भी थे। अतः उन्होंने खुद ही संगीत रचना आरम्भ की। उनकी रचनाओं में साहित्य का स्थान उतना नहीं था, परन्तु उस काल के समाज में एक विशेष संगीत पद्धति को प्रचलित करने में वे सफल हुए थे। उनकी संगीत रचनाएँ समाज में एक विशेष प्रकार की सांगीतिक रूचि स्थापन करने में अत्यधिक सहायक हुईं।

उनके प्रतिष्ठित ब्राह्मसमाज में तत्कालीन गुणी संगीतकारों के द्वारा उन्हीं के सृष्ट ब्रह्मसंगीत का गायन होता था। अनेक अंग्रेज़ भी उस समय ब्राह्मसमाज में आकर ब्रह्मसंगीत से मनोरंजन करते थे। उस समाज के मुख्य गायक बंगाल के सुविख्यात ध्रुपद गायक विष्णू चक्रबर्ती थे। राममोहन की रचनाओं में ध्रुपद शैली का प्रभाव नहीं था। बंगाल की प्राचीन और प्रचलित शैली का ही उन्होंने अनुसरण किया। ब्रह्मसंगीत की ओर बंगाल के संगीत प्रेमियों का खिंचाव इसलिए था कि उन्होंने उस संगीत में ऐसी भावना को प्राप्त किया, जो उनके मन को एक महान भाव से प्रभावित करता था। ध्रुपद शैली से ब्रह्मसंगीत रचना उससे कुछ समय बाद आरम्भ होने लगी। प्रसिद्ध ध्रुपद गायक विष्णू चक्रबर्ती का सम्बन्ध कोलकाता के प्रसिद्ध जोड़ासाँको ठाकुर परिवार से था। शास्त्रीय गीतों की शैली से ठाकुर परिवार के व्यक्तिवर्गों ने अनेक ब्रह्मगीतों की रचनाएँ की थीं।

ठाकुर परिवार के महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर संगीत रचना में राममोहन के आदर्श का ही अनुसरण करते थे। उनकी रचनाएँ अधिकतर आड़ा, जत् एवं एकताल में निबद्ध रहती थीं। देवेन्द्रनाथ ठाकुर के समय तक ही ब्रह्मसंगीत में बंगाल का सांगीतिक ऐतिह्य देखने को मिलता है। मूल बांग्ला गीत शैली के साथ विशुद्ध मार्ग-संगीत का गायन होता था। उन संगीतकारों की रचनाओं में कोई मिलावट नहीं थी, वो उनके असाधारण संगीत-बोध का ही परिणाम था। उन दिनों में ध्रुपद कैसे बांग्ला गीत शैलियों में प्रयुक्त हो सकता है, और एक अलग श्रेणी की गीत शैली का सृजन कर सकता है, उसी विषय की ही परीक्षा तथा खोज चल रही थी। अर्थात, बांग्ला गीतों में उपयुक्त गम्भीरता का प्रकाश मिलने पर ही ध्रुपद अंग के गीतों की रचना सम्भव थी इस विचार से ही 19वीं सदी में ठाकुर परिवार से द्विजेन्द्रनाथ, सत्येन्द्रनाथ एवं ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर ने ब्रह्मसंगीत रचना आरम्भ की। परवर्ती समय में इस विषय को पूर्णता प्रदान की कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने। परवर्ती में ध्रुपद के साथ धमार शैली के मिश्रण से भी ब्रह्मसंगीत की रचनाएँ आरम्भ हुई।

19वीं सदी में द्विजेन्द्रनाथ, सत्येन्द्रनाथ तथा ज्योतिरिन्द्रनाथ के द्वारा बंगाल के उच्चकोटि के संगीत अर्थात ब्रह्मसंगीत को शास्त्रीय संगीत का स्थान प्राप्त हुआ। क्योंकि वे उन दिनों के बड़े संगीतकारों का गायन सुनकर उनका अनुकरण करते थे तथा उनकी शैलियों की सहायता से अपनी रचनाएँ बनाते थे। इस प्रकार से ब्रह्मसंगीत को शास्त्रीय संगीत का स्थान प्राप्त हुआ।

19वीं सदी में बंगाल के समाज में सांगीतिक संस्कार साधन के लिए ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर का मुख्य योगदान रहा। उनके समय ब्रह्मसंगीत के प्रचार से देश में एक प्रकार का संगीत बोध तथा सांगीतिक रूचि प्रतिष्ठित हुई। ब्रह्मसंगीत की सहायता से एक आत्मसमालोचना का ही भाव प्रस्फुटित हुआ था। समाज में जो भी कल्याणदायक था उसकी रक्षा करने की इच्छा शिक्षित देशवासियों के मन में जागृत हुई थी। ब्राह्मसमाज के लोग पहले आध्यात्मिक संगीत में ही अधिक रूचि रखते थे। किन्तु बाद में बंगाल के काव्य-संगीत का संरक्षण एवं उत्कर्ष साधन भी उनके कर्तव्य के अन्तर्गत आ गया था। देबेन्द्रनाथ के समय से ही अनेक सभा-समितियों में सांगीतिक कार्यक्रमों का आरम्भ हुआ। वो आयोजन किसी एक विशेष नाम से ही परिचालित होता था। माघ-उत्सव के प्रीति-सम्मेलन में संगीत एक मुख्य आकर्षण था। ब्राह्मसमाज में द्विजेन्द्रनाथ एवं सत्येन्द्रनाथ ठाकुर टेबल हारमोनियम बजाते थे। सुप्रसिद्ध गायक विष्णु चक्रबर्ती के साथ हारमोनियम का वादन करते थे ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर। इसका कारण यह नहीं था कि हारमोनियम की गुणवत्ता अथवा श्रेष्ठता बल्कि स्वदेशी वाद्यों के साथ-साथ विदेशी वाद्यों का प्रयोग भी वह पसन्द करते थे तथा जो भी उत्तम एवं ग्रहणयोग्य था उसका सफल प्रयोग करने में रूचि रखते थे। वे उनके कॉनसॅट में क्लैरोनेट, सेलो, व्हायोलिन आदि विदेशी वाद्यों का उपयोग करते थे। ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर को कण्ठ-संगीत एवं वाद्य-संगीत आदि विषयों की जानकारी थी। इन गुणों की सहायता से वे उस काल में लोगों को संगीत-जगत की एक नयी राहों का सन्धान देने में सफल हुए।

उस समय भद्र हिन्दूसमाज में संगीत को अच्छी नज़र से नहीं देखा जाता था। किन्तु ब्राह्मसमाज में आना-जाना शुरू होने के बाद शिक्षित व्यक्तियों को यह अनुभव होने लगा कि अच्छे परिवेश में उत्तम काव्य-संगीत बहुत ही उपभोग्य, आनन्ददायक तथा श्रुतिमधुर लगता है। ब्राह्मसमाज ने संगीत को एक उँचे स्थान पर बैठाया जिसका परिणाम यह हुआ कि बंगाल का सभ्य हिन्दूसमाज भी धीरे-धीरे संगीत में मनोनिवेश करने लगा। शास्त्रीय संगीत एवं काव्य-संगीत के समन्वय से जिस संगीत शैली की सृष्टि हुई उसी को ही शिक्षितजन विशेष रूप से ग्रहण करने लगे। धीरे-धीरे ऐसा संगीत अधिक लोकप्रिय भी हुआ। परवर्ती समय में इसी शैली से ही काव्य-संगीत की नई-नई रचनाएँ बनने लगीं।

ब्रह्मसंगीत रचना की शुरूआत की थी राजा राममोहन राय ने। वे ऐसी रचनाएँ बनाते थे जो उस काल के समाज के लिए उपयोगी हों। उनका प्रधान उद्देश्य था संगीत में लोगों की रूचि का परिष्कार करना। संगीत में उन्होंने केवल आर्ट को ही मुख्य नहीं समझा बल्कि संगीत जब आमोदप्रियता की प्रधान वस्तु बन गया था, उस जगह से संगीत को एक उच्च स्थान पर पहुँचाने का ही उनका मुख्य उद्देश्य था। संगीत के उत्कर्ष साधन के लिए राममोहन राय के बाद इस क्षेत्र में पूरे परिवार के साथ उपस्थित हुए थे देवेन्द्रनाथ ठाकुर। उनके प्रयास से ही ब्रह्मसंगीत ने आर्ट संगीत का रूप धारण किया। उनके अतिरिक्त इस क्षेत्र में केशबचन्द्र सेन, बिजयकृष्ण गोस्वामी, कुंजबिहारी देव, त्रैलोक्यनाथ सान्याल, प्रतापचन्द्र मजुमदार आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा जिन संगीतकारों का संगीत अधिक प्रचलित तथा लोकप्रिय था उनमें दाशरथि राय, नीलकण्ठ मुखर्जी आदि उल्लेखनीय हैं।

18वीं सदी के अन्त से पूरी 19वीं सदी ही सम्पूर्ण रूप से सार्थक हुई काव्य-संगीत संगठन के माध्यम से। साहित्य एवं संगीत दोनों में ही इस प्रकार के संगीत का सर्वाधिक मूल्य था। इसी कारण बंगाल की सामाजिक परिस्थिति में संगीत का उत्कर्ष, यह विचार करने के लिए संगीत ही मुख्य कला का स्थान प्राप्त कर सकता है। बंगाल की समाज-संस्कृति में संगीत के जिस अध्याय का वर्णन किया गया है, वो रवीन्द्रनाथ ठाकुर के संगीत-जीवन से पूर्व। किशोर अवस्था में ही उनको एक तैयार संगीत-जगत प्राप्त हुआ था। ऐसा संगीत-जगत उनको आसानी से नहीं मिला। इसके पीछे जिन संगीतकारों का योगदान है, वो संगीतकार संगीत में अधिक प्रतिभाशाली थे। रवीन्द्रनाथ के पहले के संगीतकारों ने संगीत को आमोदप्रिय अर्धशिक्षित श्रोता-समाज से बचाकर रूचिशील और संस्कृति सम्पन्न समाज में प्रतिष्ठित किया। काव्य-संगीत को उन्होंने साहित्य के पर्याय तक स्थापित किया। सामाजिक कार्यक्रम तथा सभा-समितियों में संगीत को एक नियमित एवं स्वाभाविक अंग के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए उन संगीतकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। इसके अतिरिक्त नाटक, स्वदेशी संगीत, साहित्य आदि की नींव रवीन्द्रनाथ की किशोर अवस्था तक मज़बूत हो गई थी। इसी कारण जो संगीत-जगत उन्हें प्राप्त हुआ वो तैयार ही था।

18वीं सदी के उत्तरार्ध में ब्रह्मसंगीत के माध्यम से बंगाल के समाज में सांगीतिक रूचि विकसित हुई थी, परन्तु 19वीं सदी के उत्तरार्ध से 20वीं सदी के पूर्वार्ध तक इस प्रकार के संगीत को पूर्णता प्रदान की कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने। उन्होंने पुरानी एवं नयी अनेक प्रकार की शैलियों से गीत रचनाएँ की, जैसे - ध्रुपद, धमार, ख्याल, ठुमरी, टप्पे, भजन, लोक-गीत राष्ट्रीय गीत, पाश्चात्य शैली आदि। इनकी सभी प्रकार की रचनाएँ उस समय से लेकर आज तक भी लोकप्रिय हैं। उनकी रचनाओं के लिए समाज से किसी प्रकार के विरोधी मनोभावों का प्रकाश नहीं मिला। रामनिधि गुप्त एवं राममोहन राय के समय से लेकर रवीन्द्रनाथ के संगीत-जीवन की शुरूआत के समय तक को बंगाल के सांगीतिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण युग माना जाता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर उसी आदर्शवादी युग के महान उत्तराधिकारी हुए। आज भी सम्पूर्ण भारत में उनके गीतों का प्रयोग बड़े आदर के साथ हो रहा है।

20वीं सदी के पूर्वार्ध में 'संगीत' बंगाल में महत्त्वपूर्ण स्थान पर था। रंगमंच, नाटक में संगीत की प्रयोगात्मक प्रेरणा प्रदान की थी ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर ने। उनके बाद आये गिरिशचन्द्र घोष। नाट्य-प्रयुक्त संगीत भारतीय सामाजिक जीवन का ही एक अंग है। उसमें राग-संगीत, काव्य-संगीत एवं लोक-संगीत इन तीन प्रकार के संगीत की प्रधानता रहती है एवं माधुर्यगुण के लिए ऐसे संगीत को लोकप्रियता प्राप्त हुई। रंगमंच के द्वारा केवल कण्ठ-संगीत ही नहीं बल्कि वाद्य-संगीत की भी अत्यधिक उन्नति हुई थी, परन्तु जो समृद्धिपूर्ण संगीत युगों से बंगाल की संस्कृति को गौरव प्रदान कर रहा था उस संगीत की रक्षा करने का प्रयास परवर्ती युग में नहीं किया गया। प्रथम विश्वयुद्ध के समय से ही बंगाल के काव्य-संगीत की मृत्यु होने लगी। कुछ प्रतिभाओं को छोड़कर अन्य सभी प्रतिभाओं के द्वारा ऐसे कोई सफल सृजन नहीं हो रहे थे जिसे चिन्ताशील सृष्टि के रूप में ग्रहण किया जा सके, परन्तु कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने विशेष गुणों के कारण वर्तमान समय में भी स्मरणीय है। उस काल की परिस्थिति के कारण धीरे-धीरे उन्होंने खुदको जनता से दूर रखना शुरू किया। जन-सामान्य भी हलके-फुलके संगीत के लिए जितना उत्साही था, महान सृजन से उतना ही दूर रहता था। अतुलप्रसाद सेन का संगीत भी उस काल में लोग उतनी आसानी से प्राप्त नहीं कर पाते थे, क्योंकि वे बंगाल से बाहर रहते थे। फिर भी उनका संगीत कभी-कभी बाहर से

भी कोलकाता तक आ पहुँचता था। एवं कुछ संगीत को ग्रामोफोन रेकॉर्ड के द्वारा थोड़ी-बहुत लोकप्रियता प्राप्त हुई थी, परन्तु उनकी रचनाओं का सही मूल्य उस समय में नहीं मिला। उच्चकोटि के संगीत के प्रति प्रेम न होने के कारण बंगाल की जनता अपनी संगीत-संस्कृति से बहुत दिन तक दूर रहा।

20वीं सदी के पूर्वार्ध में बंगाल का संगीत-जगत पूरी तरह व्यापारियों के हाथ में चला गया। ग्रामोफोन रेकॉर्ड ही उस समय संगीत का प्रधान आदर्श हो गया था। जिस प्रकार के रेकॉर्ड बज़ार में आसानी से मिलते थे उसका सांगीतिक मूल्य ज्यादा नहीं था। नवीन सम्प्रदायों ने उनकी सांगीतिक शिक्षा का प्रारम्भ उन्हीं रेकॉर्डो के माध्यम से आरम्भ किया। परिणाम यह हुआ कि अतीत के सृजन से नए युग का सृजन अति दूर्बल प्रतीत हुआ एवं जो श्रोता संगीत में रूचि रखते थे, इस परिस्थिति को देखकर उन्होंने संगीत-जगत से खुद को दूर रखना शुरू किया। इसी परिस्थिति में बहुमुखी सांस्कृतिक प्रतिभा और सांगीतिक शक्ति के साथ बंगाल के समाज में आविर्भाव हुआ कवि काज़ी नज़रूल इस्लाम का। नज़रूल की रचनाएँ सामान्यजन के लिए ग्रहणयोग्य थीं। इसलिए वे अपने समय में अधिक लोकप्रियता प्राप्त करने में समर्थ हुए। बहुमुखी प्रतिभा के धनी काज़ी नज़रूल इस्लाम ने लगभग सभी विधाओं पर गीतों की रचना की। इनकी समाज-सुधार, जन-जीवन तथा जात-पात और सम्प्रदायवाद आदि विधाओं के गीत उनके समय की सामाजिक परिस्थिति को सुधार ने में अधिक कार्यकारी हुए एवं लोकप्रिय हुए। समाज के सभी सम्प्रदायों के लोगों ने उनके गीतों को बड़े आदर के साथ अपनाया। आज तक भी उनके गीत अत्यधिक लोकप्रिय हैं। बंगाल की समाज-संस्कृति में उनका नाम इस तरह जुड़ा हुआ है कि लोग अगर चाहे फिर भी उन्हें भुला नहीं पायेंगे। अगर उनका सांस्कृतिक प्रयास नहीं होता तो वर्तमान युग में बंगाल के संगीत-जगत के द्वारा महान तथा गौरवपूर्ण सृष्टि का उदाहरण प्रदान करना सम्भव नहीं होता।

द्वितीय विश्वयुद्ध के शुरू से बंगाल के संगीत में फिर से एक आश्चर्यजनक परिवर्तन सामने आया। नज़रूल इस्लाम कालव्याधि से आक्रान्त होने के बाद दो बड़े संगीतकार हिमांशू कुमार और दिलीप कुमार ने संगीत क्षेत्र में अपना-अपना योगदान दिया था, परन्तु उनमें से हिमांशू कुमार बहुत ही जल्द स्वर्गवासी हो गए और दिलीप कुमार प्रत्यक्ष रूप से बंगाल के संगीत-जगत में उपस्थित नहीं थे। अतः पहले युग की परिस्थिति को वापस लाना

आवश्यक था। किन्तु ऐसा कोई प्रयास नहीं दिखाई दिया। नए रचनाकारों ने पुरानी चीज़ों को तथा पूर्ववर्ती सांगीतिक परिस्थिति को वापस लाने का प्रयास नहीं किया। क्योंकि द्वितीय विश्वयुद्ध के समय से ही विश्व साहित्य के साथ भारत तथा बंगाल का परिचय बहुत घनिष्ट हो चुका था। उस समय बांग्ला साहित्य का भी रूप परिवर्तन होने लगा। भारत के संगीतगुणी भी बाहर जाकर विदेशी संगीत-संस्कृति के साथ परिचित होने लगे। इस अन्तरराष्ट्रीय गहरे सम्बन्ध से साहित्य में जिस प्रकार क्रान्ति दिखाई दी थी संगीत में भी इसका स्पर्श दिखने लगा था। वर्तमान समय को संगीत-जगत के परीक्षण का युग माना जाता है। कहा जाता है कि पहले युग में संगीत था SUGGESTIVE तथा अर्थगर्भित। और समाज में इस प्रकार के संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा, परन्तु वर्तमान समय का संगीत DESCRIPTIVE तथा वर्णनात्मक, जो श्रोताओं के मन को उतना रंजित नहीं कर पाता है। क्योंकि काव्य के वर्णन में सुर प्रयुक्त होने से जिस प्रकार माधुर्य का सृजन होता है, सिर्फ भाषा के वर्णन में उतना नहीं होता। फिर भी, समाज के अधिक से अधिक लोग इस वर्णनात्मक संगीत से ही आनन्द प्राप्त कर रहे हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि 18वीं और 19वीं सदी का संगीत समाज से बिल्कुल विलुप्त हो गया है। संगीत की दुनिया में आज तक भी कुछ श्रोता ऐसे है जो निधुबाबू के टप्पे, ठाकुर परिवार प्रवर्तित ब्रह्मसंगीत एवं काव्य-संगीत, द्विजेन्द्रलाल राय, अतुलप्रसाद सेन, रजनीकान्त सेन आदि संगीतकारों की रचनाओं से आनन्द प्राप्त करते हैं।

वर्तमान युग में संगीत स्रष्टा नए आविष्कार के उद्देश्य से पाश्चात्य देशों में प्रचलित वर्णना प्रधान गीतों के आश्रय से बांग्ला गीत रचना के जोरदार प्रयत्न में लगे हैं। यह परिस्थिति तथा परिणाम बंगाल के संगीत-समाज को कहा तक पहुँचायेगा यह कहना कठिन है। क्योंकि उपयुक्त प्रतिभाशाली संगीतकारों के द्वारा कोई भी सृजन अपना सार्थक रूप प्रदान करता है।

3. बंगाल का संगीत और संगीतकार

बंगाल का संगीत

बंगाल की संगीत-संस्कृति बहुत ही पुरानी है । प्राचीन काल में बांग्लादेश, त्रिपुरा आदि जितने भी आस-पास के इलाकों में बांग्ला भाषा का प्रचलन था उन सभी इलाकों को लेकर ही प्राचीन बंगाल प्रदेश था । कहा जाता है कि प्राचीन बंगाल में शास्त्रीय संगीत की चर्चा आज से 1500 साल पहले शुरू हुई थी, जब सिर्फ 'प्रबन्ध' संगीत का ही प्रचलन था । 5वीं शताब्दी में जब बंगाल में प्राचीन आर्य संस्कृति का प्रभाव विस्तार हुआ था, तब बंगाली जाति ने उस आर्य संस्कृति का स्वागत किया । फलतः उस समय से प्रबन्ध संगीत का भी प्रचार होने लगा। शास्त्रोकारों का कहना है कि 'चर्यापद' ही बांग्ला भाषा का प्राचीन गीत है, जो मूलतः प्रबन्ध-संगीत ही है। प्राचीन चर्यागीति विभिन्न शास्त्रीय राग-रागिनियों पर आधारित थी, जिसका प्रमाण चर्यागीतों के साथ रागों के उल्लेख से मिलता है। 13वीं सदी में जयदेव का 'गीत-गोविन्द' भी 'प्रबन्ध संगीत' का ही ग्रन्थ था । स्वयं जयदेव ने ही अपनी रचनाओं को प्रबन्ध संगीत कहा हैं । 15वीं सदी से प्रबन्ध-गायन धीरे-धीरे लुप्त होने लगी तथा नयी-नयी शैलियों की आविर्भाव हुई । शास्त्रकारों ने उन शैलियों को 'बिप्रकीर्ण प्रबन्ध' कहा हैं । उस समय से ही बंगाल के आध्यात्म संगीत 'कीर्त्तन' की सृष्टि हुई । 'कीर्त्तन' को शास्त्रकारों ने बंगाल का प्राचीन शास्त्रीय गीत कहा है। 'कीर्त्तन' गायकों को हिन्दू तथा मुसलमानी संगीत का भी ज्ञान था और अनेक संगीतज्ञ थे, जो केवल गायक ही नहीं बल्कि संगीत शास्त्रकार भी थे । अपनी रचनाओं के लिए इन गुणियों ने ध्रुपद का सहारा लिया करते थे । कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने ग्रन्थ 'संगीत चिन्ता' में कहा हैं कि, "बंगाली कीर्त्तन संगीत की प्राचीन सृष्टि अत्यन्त सत्य, गम्भीर तथा भावावेगपूर्ण है । इस रचना ने हिन्दुस्तानी संगीत के बन्धनों को स्वीकार नहीं किया, परन्तु हिन्दुस्तानी संगीत की राग-रागिनियों को भी अलग नहीं रख सका । उन सभी को लेकर ही कीर्त्तन संगीत ने अपनी एक अलग जगत की सृष्टि की थी।[19] उन्होंने यह भी कहा है कि, "उसमें साहित्य और संगीत का सुन्दर समन्वय मिलता है । उसमें अनेक नाट्यरस है, जो हिन्दुस्तानी संगीत में नहीं मिलता है" ।[20] बंगाल के सांगीतिक इतिहास का विचार-विमर्श एक जटिल विषय है । दरबारी प्रथा अर्थात् वर्तमान ध्रुपद, धमार, ख्याल की शुरूआत कबसे हुई ? यह निर्णय करना कठिन है ।

18वीं सदी के शुरू तक जिन ग्रन्थों में संगीत सम्बन्धित विवरण मिलता है वो सभी पुराने ग्रन्थों की पर्यालोचना है । संगीत दामोदर, भक्ति रत्नाकर, संगीतसार संग्रह आदि ग्रन्थों में क्रमिक संगीत का विवरण नहीं मिलता है, सिर्फ ध्रुपद, चित्रपदा, चुटकला आदि उस समय के प्रचलित गीत शैलियों का उल्लेख है । 18वीं सदी में रामप्रसाद ने आधुनिक शैली में संगीत रचना की तथा निधुबाबू भी इसी समय में ही संगीत रचनाकार के रूप में प्रसिद्ध हुए । अगर दरबारी रीति में ध्रुपद, ख्याल आदि का प्रचार नहीं था, तो रामप्रसाद, निधुबाबू जैसे प्रसिद्ध रचनाकार कैसे आगे आये ? अतः यह कहा जा सकता है कि उस समय से ही मुगल दरबार की गीत शैलियाँ बंगाल में थोड़ा-बहुत प्रचार में थी, यद्यपि बंगाल प्राचीन काल से ही अपनी स्वतन्त्रता को पकड़कर ही चल रहा था ।

15वीं सदी के अन्त में उस समय की सुविख्यात गुणी संगीतज्ञ तथा जौनपुर के सुल्तान हुसैन शर्की ने दिल्ली के सुल्तान बहलोल लोदी के साथ लड़ाई में पराजित होकर बंगाल के नवाब हुसैन शाह का आश्रय ग्रहण किया । कुछ गायक-वादक भी उनके साथ बंगाल आकर बस गए थे।

बादशाही युग में सम्राट अकबर के समय से पूरे भारत के साथ बंगाल का सांगीतिक संयोग स्थापित हो रही थी । तानसेन तथा अन्य प्रसिद्ध कलाकारों की ख़बर बंगाल में भी पहुँची तथा वहाँ के संगीतज्ञ मुगल दरबार के साथ संयोग स्थापित करने का प्रयास भी कर रहे थे । 'राग दर्पण' नामक फ़ारसी ग्रन्थ (1666) में उल्लेख है कि सुल्तान सूजा के साथ दो प्रसिद्ध गायक बंगाल में आये थे । उनमें मिसिर मनजान ढाढ़ी जो बिलास खाँ के शिष्य थे, उनके समान गायक बंगाल में कम ही थे । इस उल्लेख से बंगाल में सेनी घराने की शुरूआत के विषय में जानकारी मिलती है । उनके द्वारा तानसेन के गीतों का प्रचार बंगाल में शुरू हुआ था, यह धारणा किया जाता है । अन्य गायक का नाम गुण खाँ कलावन्त । सम्राट सूजा ने उनको भी सम्राट शाहजहाँ के दरबार से ले आये थे। 'राग दर्पण' में उल्लेख है कि मार्ग-संगीत में उनका विशेष ज्ञान था" ।[21]

ऐतिहासिक विवरणों के अनुसार बंगाल में शास्त्रीय संगीत साधना का प्राचीन केन्द्र था बिष्णुपुर । यह राज्य प्राचीन काल से 'मल्लभुम' नाम से प्रसिद्ध है । 7वीं सदी में मल्लराज रघुनाथ ने इस राजवंश की स्थापना की थी । 13वीं सदीं में मल्लवंशीय राजा राजमल्ल के

समय से वर्तमान तक विष्णुपुर संगीत साधना के लिए प्रसिद्ध है । 14वीं सदी में मल्लराजा पृथ्वीमल्ल के राज्यकाल में विष्णुपुर राज्य में सर्वप्रथम संगीतशास्त्र का विचार-विमर्श शुरू हुआ था । राज्य में संगीत साधना तथा प्रचार में उनका बहुत योगदान रहा । अतः विष्णुपुर को संगीत साधना का प्राचीन स्थान कहने से कोई अत्युक्ति नहीं होगा । संगीत-क्षेत्र में विष्णुपुर भारत का गौरव स्थान है। अलाउद्दीन खिलजी के युग से लेकर मुगल शासन व्यवस्था के अन्त तक दिल्ली नगरी संगीत चर्चा का प्रसिद्ध स्थान हो गया था । अतः दिल्ली केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही भारत की राजधानी नहीं बल्कि संगीत-जगत का भी राजधानी थी । "विष्णुपुर की संगीत साधना दिल्ली जैसे ही प्रसिद्ध होने से विष्णुपुर को उस काल 'छोटा दिल्ली' कहा जाता था" ।[22]

18वीं सदी से बंगाल में पूरी तरह शास्त्रीय संगीत की चर्चा शुरू हुई एवं विष्णुपुर तब तक संगीत-जगत का एक बड़ा केन्द्र बन गया था । "विष्णुपुर के रामप्रसन्न बैनर्जी ने अपने ग्रन्थ 'संगीत मंजरी' में बहादुर खाँ की एक गाने की स्वरलिपि लिखकर इस विषय पर बताया है कि विष्णुपुर में शास्त्रीय संगीत प्रचार के लिए 18वीं सदी के पहले-पहल महाराजा द्वितीय रघुनाथ सिंह ने बहादुर खाँ को दिल्ली से लाकर राज दरबार में गायक नियुक्त किया । बहादुर खाँ ने तानसेन के गीतों का प्रचार किया एवं विष्णुपुर के लोगों को यही विश्वास है कि उनके द्वारा ही विष्णुपुर में सेनी गीतों की प्रतिष्ठा हुई" ।[23] इस प्रकार से बंगाल के स्थान-स्थान पर दरबारी संगीत का प्रचार-प्रसार होने लगा । बंगाल के कुछ संगीतज्ञों इन संगीत परम्पराओं का सन्धान रखते थे । इसके अलावा अनेक उत्सवों में भी बाईजी-नर्तकीयाँ विभिन्न प्रकार पश्चिमी गीतों को प्रस्तुत करती थी । इससे भी बंगाल में अनेक शैलियों का उद्‌भव हुआ ।

औरंगजेब के मृत्यु (1707) के बाद मुगल साम्राज्य का क्रमशः पतन होने लगा । उस समय तक अंग्रेज़ शासकगण भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने में समर्थ हो गए थे । 1759 से द्वितीय शाह आलम का राज्यकाल शुरू हुआ था, परन्तु वे स्वाधीन सम्राट नहीं थे । मृत्यु के समय तक (1806) वह अंग्रेज़ों से अनुवृत्ति लेते रहें । द्वितीय शाह आलम के समय से ही दिल्ली दरबार के संगीतज्ञों को छत्र न मिलने से उन्हें जीवन निर्वाह के लिए देश के विभिन्न स्थानों में जाना पड़ा । उन्होंने विभिन्न मुसलमान नवाब, हिन्दू राजा तथा जमिन्दारों के

दरबारों में आश्रय ग्रहण किया । उनमें से अनेक संगीतज्ञों सन 1757 से लेकर 1806 तक बंगाल प्रदेश में आकर बस गए थे । उस्ताद मान खाँ सन् 1706 से ही चुँचुड़ा में स्थायी हो गए थे । उनके आस-पास के समय में उस्ताद बड़े मियाँ, हस्सु खाँ, हद्दु खाँ, हीरा, बुलबुल आदि मुर्शिदाबाद में आ बसे । उस्ताद रसुल बक्श ने पहले कृष्णनगर राजबाड़ी में आश्रय लिया, बाद में वे हुगली जिले के श्रीरामपुर में रहने लगे । उस्ताद मामु खाँ के सुयोग्य शिष्यों में रामचन्द्र शील, गोपालचन्द्र पाठक, पराण मुखर्जी, रामकृष्ण पाल आदि का नाम आता है । उस्ताद रसुल बक्श के सुयोग्य शिष्य थे रामदास गोस्वामी । रामदास जी के शिष्यों में निमाईचाँद घोषाल एवं हरिनारायण मुखर्जी का नाम आता है ।

19वीं सदी में कोलकाता शहर शास्त्रीय संगीत का प्रसिद्ध स्थान बनने लगा । उस समय पाथुरियाघाटा ठाकुर परिवार से महाराजा जतीन्द्रमोहन ठाकुर (1831-1908) एवं सौरिन्द्रमोहन ठाकुर (1850-1914) ये दो भाईयों का योगदान बंगाल का संगीत-जगत कभी भूल नहीं सकता । देश में सांगीतिक उन्नति तथा संस्कार के लिए उनका आर्थिक योगदान भी रहा । उस समय तक कोलकाता में एक संगीत-समाज की भी प्रतिष्ठा हुई । भारत के प्रसिद्ध हिन्दु तथा मुसलमान उस्तादगण कोलकाता के जलसा एवं महफ़िलों में भाग लेते रहे । बड़ौदा से मौलाबक्श, लाहौर से अलीबक्श, दौलत खाँ एवं गया से हनुमानदास जी आदि प्रसिद्ध संगीतज्ञ कोलकाता में आते-जाते रहे । उसके बाद विभिन्न प्रदेशों से अनेक उस्तादगण आते रहे । उन सभी कलाकारों की गायन शैली एक जैसी नहीं थी । फलतः अनेक शास्त्रीय परम्पराओं की सृष्टि हुई । 19वीं सदी के अन्त तक जो उस्तादगण कोलकाता आये थे उनमें मुहम्मद अली खाँ एवं उजीर खाँ का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । सौरीन्द्रमोहन ठाकुर, मुहम्मद अली खाँ के शिष्य रहे । अतः 18वीं सदी से एक तरफ जैसे प्राचीन रीति चल रहा था, ऐसे ही दूसरी तरफ दरबारी और पश्चिमी शैली के गीतों का भी प्रचार था । फलतः इसी सदी से बंगाल के संगीत-जगत में अनेक नयी शैलियों का भी सृष्टि होने लगा ।

18वीं सदी के मध्यवर्ती समय में बंगाल में टप्पा एवं टप् ख्याल का प्रचलन आरम्भ हुआ । उस समय जिन संगीतज्ञों ने इन गायन पद्धतिओं का प्रचलन किया उनमें कविरंजन रामप्रसाद सेन, भारतचन्द्र, रामनिधि गुप्त (निधुबाबू) आदि का नाम उल्लेखनीय है । टप्पा एवं ख्याल के मिश्रण से ही टप्-ख्याल की रचना हुई थी । यह बंगाल की अपनी शैली है ।

उसमें बड़ी दानेदार ताने तथा गमक, गिटकिरी, युक्त अलंकारों का प्रयोग होता था । इस युग में बंगाल प्रदेश में शास्त्रीय संगीत की सिर्फ चर्चा ही नहीं चल रही थी, बल्कि बंगाल अपनी गायन शैलियों की नयी-नयी सृष्टि में भी डुबा हुआ था। बंगाल के देवीमण्डपों में, बैठकखानाओं में श्यामा-संगीत, बांग्ला टप्पा तथा टप्-ख्याल आदि गायन पद्धतियों को लेकर विचार-विमर्श भी चल रहा था । उस समय के प्रसिद्ध कवियाल हरू ठाकुर, देवान रघुनाथ राय, देवान रामदुलाल, कवियाल रामबसु आदि ने अनेक संगीत कृतियों की रचना की है । उस समय नयी शैली का शास्त्रीय संगीत एवं रोमान्टिक टप्पा तथा टप्-ख्याल बंगाल में काफी लोकप्रिय हुई थी । निधुबाबू ने नए ढंग से बांग्ला टप्पा का प्रवर्तन करके शास्त्रीय संगीत-जगत में नव-जागरण का सृजन किया था ।

अत: 18वीं सदी के शुरू से 19वीं सदी तक बांग्ला गीतों में एक नयी जागृति देखने को मिलती है । प्राचीन शास्त्रीय राग जैसे - बसन्त, गौरी, साहाना, पूर्वी, बागेश्री, खमाज, भीमपलासी, मूलतानी आदि रागों में तथा आठ (8) मात्रा की जत्, 16 मात्रा की आड़ठेका, 32 मात्रा की मध्यमान, 12 मात्रा की एकताल (त्रिमात्रिक), आड़ा, पोस्ता आदि तालों मे बांग्ला गीत अपनी स्वतन्त्रता के साथ विकसित हो रही थी । उस समय के बांग्ला गीत हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति से थोड़ा अलग था । पाँचाली गायक दाशरथि राय, रसिक राय, नाट्यकार मनोमोहन बसु, श्रीधर कथक, जात्रावाला गोविन्द अधिकारी, ढप गायक मधुसूदन किन्नर आदि के गीतों में शास्त्रीय संगीत का नया रूप दिखाई देता है । बंगाल की कृष्णजात्रा, कथकता, रामायण गान, झुमुर, कविगान, तरजा, श्यामा संगीत आदि गीतों से प्रभावित होकर पाँचाली, टप्पा तथा टप्-ख्याल आदि रागाश्रयी गीतों का व्यापक प्रचलन हुआ था । उस समय ही कोलकाता तथा आस-पास के इलाकों जैसे - उत्तरपाड़ा, श्रीरामपुर, चुँचुड़ा, हुगली, गोबरडांगा, कृष्णनगर, मुर्शिदाबाद, विष्णुपुर, आगरतला (त्रिपुरा), गौरीपुर (त्रिपुरा) एवं वर्तमान बांग्लादेश के नाटोर, मैमनसिंह, ढाका, कुमिल्ला आदि स्थानों के राजा-महाराजा तथा जमिन्दारों की सहायता से शास्त्रीय संगीत (ध्रुपद, ख्याल) का विकास भी हो रहा था । यह बताना जरूरी है कि 18वीं सदी के उत्तरार्ध से बंगाल की राजनैतिक स्थिति ठीक नहीं थी, फिर भी संगीतकारगण ने अपने-अपने क्षेत्र में योगदानों कि कोई कमी नहीं छोड़ी ।

सन् 1757 में बंगाल प्रदेश में नवाब सिराजउद्दौला का राज था, परन्तु अंग्रेज़ों के साथ लड़ाई में नवाब की पूर्ण रूप से पराजय हुई एवं प्लासी नाम की छोटी सी प्रदेश पर अंग्रेज़ों की सत्ता स्थापित हुई। फलतः प्रादेशिक तथा सामाजिक जीवन में नए परिवर्तन होने लगे । अंग्रेज़ों की जरूरत से बनने लगी नयी राजधानी, नए-नए शहर एवं लोगों के रूची में भी परिवर्तन होने लगा।

इस नए युग से अनेक नए-नए संगीतकार भी पैदा हुए जिन्होंने बंगाल के संगीत-जगत में अपने-अपने सांगीतिक योगदान देकर संगीत-जगत को एक उच्च स्थान पर ले गए । अतः 18वीं सदी के उत्तरार्ध से हमें बंगाल के संगीत-जगत से अनेक गुणी संगीतकारों का योगदान प्राप्त होता है । इनके योगदानों से बंगाल के संगीत-जगत में सार्विक उन्नति हुई है ।

संगीतकार

रामनिधि गुप्त (निधुबाबू)

'निधुबाबू' नाम से सुपरिचित रामनिधि गुप्त का जन्म सन् 1741 में बंगाल की त्रिवेणी के पास चाँपता गाँव में हुआ, परन्तु उनके संगीत-जीवन की शुरूआत बिहार के छापरा जिले में हुआ था । छापरा में एक हिन्दुस्तानी संगीत के उस्ताद से उनकी शिक्षा आरम्भ हुई थी, खास करके टप्पा की शिक्षा । उस्ताद के पास शिक्षा बन्द होने के बाद उन्होंने खुद ही बांग्ला टप्पा रचना करना आरम्भ किया तथा हिन्दुस्तानी शैली की राग-रागिनियों एवं तालों के अनुसार बांग्ला गीत रचना करके गायन आरम्भ किया । कुछ ही दिनों में वे एक उत्तम संगीतज्ञ के रूप में परिचित हो गए ।

बंगाली साहित्य के इतिहास में तब तक मंगलकाव्य का युग चल रहा था, परन्तु निधुबाबू ने अपनी रचनाओं में आधुनिक भाषा का प्रयोग किया है । अच्छी संगीत रचनाओं के लिए टप्पा के इतिहास में वे आज भी अमर हैं । उनकी रचना में काव्य प्रधानता मिलती है ।

18वीं सदी के उत्तरार्ध से बंगाली गीतों में शोरी मियाँ की टप्पा शैली का खास प्रभाव मिलता है । सिर्फ टप्पा ही नहीं बल्कि भारतीय संगीत की सभी शैलियों का प्रभाव बांग्ला गीतों में मिलता है, परन्तु बांग्ला टप्पा में पंजाबी टप्पा का प्रभाव रहते हुए भी वो अपनी एक स्वतन्त्र शैली में परिणित हुआ ।

उस समय की सांगीतिक परिस्थिति सन्तोषजनक नहीं थी, परन्तु निधुबाबू के संगीत को सर्वसाधारणों ने भी अपनाया । उन्होंने ज्यादातर प्रेम-संगीत की रचना की । उनकी अनेक रचनाएँ ब्रह्मसंगीत के रूप में भी मिलती है । उनका संगीत भाव तथा सुर प्रधान है ।

यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि शोरी मियाँ की टप्पा की भाषा उर्दू मिश्रित हिन्दी भाषा। उस भाषा शैली से ही उन्होंने अपने संगीत को सजाया, परन्तु उर्दू मिश्रित हिन्दी भाषा और बांग्ला भाषा का स्वभाव एक नहीं है। यह ज्ञान निधुबाबू को था । अत: उन्होंने शोरी मियाँ की शैली को अपने संगीत में प्रयोग तो किया, परन्तु वह अपनी ही सूक्ष्म दृष्टि तथा सोच के द्वारा । सजल-श्यामल बंगाल की कोमल मिट्टी में जिस भाषा का जन्म हुआ उसी भाषा में शोरी मियाँ की शैली से गीत रचना बंगाल के लिए उपयुक्त नहीं होगी यह अनुभव होने से उन्होंने अपनी ही एक नयी गीत शैली की सृष्टि की, जिसकी गति धीर मिजाज़ सम्पन्न एवं जिसमें बड़े दानेदार युक्त तानों का प्रयोग होता था। फलत: बांग्ला टप्पा के साथ पंजाबी टप्पा की तुलना की जा सकती है । वाणी तथा सुर को समान महत्त्व देते हुए निधुबाबू ने बांग्ला टप्पा के द्वारा बंगाली गीतों में एक नयी शैली को जन्म दिया । यह शैली उस काल से लेकर परवर्ती काल में भी समान प्रभाव डालती रही । उनकी मृत्यु सन् 1838 में हुई । मृत्यु के कुछ दिन पहले उन्होंने अपने प्रचलित गीतों का एक ग्रन्थ भी निकाला जिसका नाम 'गीतरत्न' है । निधुबाबू के परवर्ती कुछ प्रतिष्ठित टप्पा गायकों ने भी इस शैली का काफी प्रचार किया है । उनमें श्रीधर कथक तथा काली मीर्जा का नाम विशेष उल्लेखनीय है ।

राममोहन राय तथा ब्रह्मसंगीत

'ब्रह्मसंगीत' यह नामकरण राजा राममोहन राय ने किया था । उनका जन्म सन् 1774 में हुआ। वे ज्यादातर बंगाल के बाहर ही रहते थे । सन् 1815 से वे स्थायी रूप से बंगाल के कोलकाता में रहने लगे । कहा जाता है कि उस समय से ही उनका संगीत-जीवन शुरू हुआ था। कोलकाता में ही उन्होंने उस समय के प्रसिद्ध टप्पा गायक तथा रचनाकार काली मीर्जा से संगीत की शिक्षा प्राप्त की । ऐसे तो छोटी उम्र में अपने परिवार से उनको पद्धतिगत संगीत की शिक्षा मिली थी, परन्तु वे बहुत बड़े संगीतकार नहीं थे । 40 साल की उम्र मे संगीत-शिक्षा प्राप्त करने का मुख्य उद्देश्य यही था कि उस समय के समाज व्यवस्था में संगीत को एक उच्च स्थान प्राप्त कराना ।

मुगल साम्राज्य के पतन एवं अंग्रेज़ों की सत्ता स्थापन ऐसे सन्धिकाल में देशीय शिल्प-संस्कृति के प्रति जन-समाज की श्रद्धा कम हो गई थी । थोड़ा-बहुत धर्मीय संगीत के अलावा बांग्ला भाषा में ऐसी कोई संगीत रचना नहीं थी जो शिक्षित जन-समाज में मान्यता पा सके, परन्तु उस समय से पहले विष्णुपुर में ध्रुपद का जोरदार प्रचलन था। कोलकाता की मटियाब्रुज में ठुमरी की प्रचलन शुरू हुई। रामनिधि गुप्त के द्वारा बांग्ला टप्पा की सृष्टि हुई, किन्तु 19वीं सदी के मध्यवर्ती समय में बंगाल में शास्त्रीय संगीत का प्रभाव बहुत ही कम होने लगा । तब संगीत सिर्फ कोलकाता के बाबू-समाज में उनके उसृंखल विलासपूर्ण जीवन में ही अपना स्थान बनाकर चल रहा था । ऐसे समय में ही ब्राह्मसमाज के द्वारा ब्रह्मसंगीत का प्रचलन हुआ । ब्राह्मसमाज के साथ ब्रह्मपूजा का कोई सम्बन्ध नहीं था । ब्रह्मसंगीत उपासना का संगीत है । युरोपीय क्रिश्चियन समाज में संगीत ही ईश्वर उपासना तथा प्रार्थना का मुख्य साधन था । इसी प्रभाव से ही राममोहन राय ने पहले अपनी ही सृष्ट 'आत्मीय सभा' में एवं उसके बाद ब्राह्मसमाज के उपासनालय में संगीत का प्रचलन किया । जो ब्रह्मसंगीत के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

सन् 1815 में उन्होंने कोलकाता के अपने भवन में सर्वप्रथम ब्राह्मसमाज के लिए एक उपासनालय स्थापित किया । कहा जाता है कि उस भवन से ही ब्राह्मसमाज की शुरूआत हुई थी, परन्तु स्थायी रूप से इस समाज की प्रतिष्ठा सन् 1828 के 20 अगस्त कोलकाता की चित्पुर में ही हुई थी ।

कोलकाता की संगीत चर्चा के इतिहास में ब्राह्मसमाज की विशेष देन है । राममोहन तथा उनके अनुसारीगण ब्राह्मसमाज में प्रार्थना-उपासना के द्वारा संगीत को बाबू-समाज के विलासपूर्ण जीवन से हटाकर एक उन्नतिशील रूचि सम्पन्न स्थान पर ले जाने में समर्थ हुए । बांग्ला गीतों की विवेचना में ब्रह्मसंगीत का अवदान इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि अनेक गुणी तथा शिक्षित संगीतज्ञ एवं बंगाली रचनाकारों ने इस संगीत को समृद्ध करने में सहायता की थी । उपासनालय का संगीत होने के कारण ही ब्रह्मसंगीत गम्भीर तथा ध्रुपद शैली का अनुकरणीय था । फलतः बंगाल में फिर से ध्रुपद का पूनर्जीवन हुआ ।

ब्रह्मसंगीत के पहले बांग्ला गीतों में कीर्त्तन एवं टप्पा का प्रभाव ज्यादा देखने को मिलता था । ध्रुपद, ख्याल की शैली में रचित बांग्ला गीत रचना उस समय कम था।

राजा राममोहन राय ने मार्ग-संगीत को पूर्ण सम्मान से प्रतिष्ठित करने के लिए अपनी ही प्रतिष्ठित ब्राह्मसमाज की उपासना में संगीत को एक विशेष स्थान प्राप्त कराया । उपासना के साथ उनके रचित ब्रह्मसंगीत का गायन शुद्ध मार्ग-संगीत जैसा ही होता था । उस काल के प्रसिद्ध गायक-वादकगण इस सभा में भाग लेते थे । यहाँ उस समय की प्रसिद्ध उस्ताद गुलाम रसुल का नाम उल्लेखयोग्य है । उनके साथ संगत करते थे उस्ताद गुलाम अब्बास खाँ ।

राममोहन राय को भारत का प्रथम प्रगतिशील व्यक्ति कहा जाता है । वह एक उच्चकोटि के नेता थे । उस काल में भारतीय राजनैतिक तथा सामाजिक संस्कार सुधारने में उन्होंने काफी योगदान दिया था । उन्होंने अनेक कर्मो के साथ सांगीतिक स्थिति को सुधारना भी एक बड़ा काम समझा था । अतः एक प्रतिष्ठित संगीतकार न होते हुए भी संगीत-जगत में उनका योगदान इतिहास के पन्ने में शामिल हो गया ।

राममोहन की रचनाएँ भारतीय शास्त्रीय संगीत के सुर तथा लय के आधार पर रची गई। उन्होंने संगीत को राजदरबारों से मुक्त करके शिक्षित जन-समाज के सामने ले आये थे । उस समय से ही शिक्षा प्रतिष्ठानों में भी संगीत को स्थान मिलने लगा ।

राममोहन के बाद महर्षि देवेन्द्रनाथ के प्रयास से भी ब्रह्मसंगीत का प्रचलन रहा। देवेन्द्रनाथ एक उच्चकोटि के संगीतकार थे । ब्रह्मसंगीत के लिए उन्होंने ख्याल अंग को ही श्रेष्ठ समझा । तत्पश्चात् जिन संगीतकारों ने ब्रह्मसंगीत की रचना की, उन्होंने हिन्दुस्तानी संगीत की विभिन्न शैलियों को ही ग्रहण किया, जैसे - ध्रुपद अंग, ख्याल अंग, टप्पा अंग आदि । इसके अलावा बंगाल के लोक-संगीत, मराठी एवं महीशुरी भजन आदि शैलियों के आधार पर भी ब्रह्मसंगीत की रचना हुई। उन संगीतकारों में विष्णुराम चटर्जी, सत्येन्द्रनाथ ठाकुर, द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, कालीनाथ घोष, मनोमोहन चक्रबर्ती, जदुभट्ट, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रजनीकान्त सेन, अतुलप्रसाद सेन, शिबनाथ शास्त्री आदि के नाम उल्लेखनीय हैं ।

रामशंकर भट्टाचार्य

रामशंकर भट्टाचार्य को विष्णुपुर ध्रुपद घराने के संस्थापक माना जाता है । उनके पिता गदाधर भट्टाचार्य विष्णुपुर राज्य के सभापण्डित थे । पिता की इच्छा थी कि रामशंकर भी राज्य पण्डित होंगे । अतः रामशंकर ने अनेक शास्त्र पढ़कर पिता की इच्छा पूर्ण की ।

छोटी उम्र में ही वे एक शास्त्रविद हो गए, परन्तु बड़े होकर रामशंकर जब राजसभा में जाने लगे तब प्रतिभाशाली अनेक संगीतकारों ने उनके मन को छू लिया । तब से वह संगीत चर्चा में ही डूब गए । जन्म से ही वे प्रतिभाशाली थे । कुछ ही दिनों में उन्होंने अपने गायन के द्वारा लोगों के मन को जीत लिया । विष्णुपुर राजा की सहायता से वे एक बड़े संगीतकार के रूप में प्रतिष्ठित हो गए । सिर्फ संगीतज्ञ ही नहीं बल्कि आप एक संगीत शास्त्रकार भी थे । राग-रागिनियों के शुद्ध आलापचारिता के लिए वे प्रसिद्ध थे । उन्होंने अनेक संगीत रचना किया । उनकी रचनाओं में संगीत तथा साहित्य का अपूर्व समन्वय मिलता है । बंगाल का संगीत-जगत उनकी रचनाओं को बांग्ला भाषा की अमुल्य सम्पदा मानता है । उच्चस्तर की रचना के लिए संगीत-जगत में उनकी अनेक देन है ।

क्षेत्रमोहन गोस्वामी

क्षेत्रमोहन गोस्वामी का जन्म सन् 1813 में बंगाल की मेदिनीपुर जिले के चन्द्रकोणा गाँव में हुआ । 19वीं सदी में संगीत के आसमान में जितने भी प्रसिद्ध पुरूष हुए उनमें क्षेत्रमोहन गोस्वामी का नाम अवश्य उल्लेखनीय है ।.

बालक अवस्था में ही उनको संगीत का प्रेम था । पिता राधाकान्त गोस्वामी को यह अनुभव होने से वे अपने पुत्र को उस समय के सुविख्यात संगीतज्ञ तथा संगीत आचार्य रामशंकर भट्टाचार्य (विष्णुपुर) के पास ले गए । गुरू कृपा से कुछ ही दिनों में आप गायक क्षेत्रमोहन गोस्वामी बन गए। अतः आपका नाम चारों तरफ फैलने लगा । उसके बाद आप कोलकाता आ गए एवं वहाँ की पाथुरियाघाटा ठाकुर परिवार में राजा जतीन्द्रमोहन ठाकुर के सभागायक नियुक्त हुए तथा जीवन के अन्त तक वहीं रहे । जतीन्द्रमोहन की सहायता से आपने संगीत के प्रचार-प्रसार में जीवन समर्पित किया । जितनी खोज मिलती है, उससे जानकारी प्राप्त होती है कि भारत में क्षेत्रमोहन ने ही सर्वप्रथम वृन्दवादन (Orchestra) का प्रवर्तन किया । आधुनिक युग में भारतीय संगीत की पहली स्वरलिपि रचना भी उन्होंने ही की, जो दण्ड-मात्रिक स्वरलिपि पद्धति के नाम से प्रसिद्ध है । आप एक उच्चकोटि के संगीत रचनाकार भी थे । बांग्ला, हिन्दी, संस्कृत आदि भाषाओं में उन्होंने अनेक ध्रुपदों की भी रचना की । राजा सौरीन्द्रमोहन ठाकुर द्वारा प्रतिष्ठित 'बंग संगीत विद्यालय' (1871) एवं 'बेंगल अकादमी ऑव् म्युजिक' (1881) नामक दोनों संगीत-शिक्षा केन्द्र में आप नियुक्त रहे।

संगीत-क्षेत्र में अनेक कृतित्त्व के लिए 'बेंगल अकादमी ऑव् म्युजिक' ने आपको 'संगीत-नायक' की उपाधि प्रदान की । भविष्य में छात्रों की सुविधा के लिए आपने स्वरलिपि पद्धति तथा अनेक ग्रन्थों की भी रचना की । आपके अमुल्य ग्रन्थों में एकतानिक स्वरलिपि, संगीत सार, गीतगोविन्देर स्वरलिपि, कण्ठ-कौमुदि, आशुरंजनी तत्त्व आदि उल्लेखनीय है ।

इस संगीत साधक की मृत्यु सन् 1893 में हुई। सांगीतिक देन के लिए बंगाल के संगीत-जगत में आप सर्वदा स्मरणीय रहेंगे ।

सौरीन्द्रमोहन ठाकुर

व्यक्तिगत प्रतिभा को प्रदीप्त आलोक निर्मित करते हुए देश का मुख उज्वल कर, जाति के उत्थान एवं संसार के सभा मंच पर श्रेष्ठ आसन ग्रहण करनेवालों में स्व. राजा सौरीन्द्रमोहन ठाकुर एक विशेष स्थान रखते हैं ।

कोलकाता के ठाकुर वंश में सन् 1940 ई. में सौरीन्द्रमोहन का जन्म हुआ। यह विख्यात ठाकुर वंश उस समय दो-शाखाओं में विभक्त होकर पास-पास ही दो महल्लों में निवास करता था । जोड़ासाँको में बंगीय ब्राह्मण समाज के अन्यतम कर्णधार महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर अपने परिवार सहित निवास करते थे और पाथुरियाघाटा में श्री हर कुमार ठाकुर एवं तत्कालीन हिन्दू समाज के विशिष्ट समाजपतिगण रहते थे । सौरीन्द्रमोहन, हर कुमार ठाकुर के ही कनिष्ठ पुत्र थे ।

किशोर अवस्था आने के पूर्व ही सौरीन्द्रमोहन में विशेष मानसिक प्रतिभा का विकास परिलक्षित हुआ । आप केवलमात्र संगीत का अनुशीलन ही नहीं, अपितु साहित्य एवं इतिहास इत्यादि के सम्बन्ध में भी असाधारण अनुसन्धान करनेवाले थे । उनके 14 और 16 वर्ष की आयु में लिखे हुए ग्रन्थों ने गुणी एवं ज्ञानीजनों को आकर्षित किया ।

सौरीन्द्रमोहन की प्राथमिक शिक्षा उनके पिता के पास ही प्रारम्भ हुई । उनके पिता तानसेन के वंशज उत्कृष्ट गायक बासत खाँ एवं ग्वालियर घराने के प्रसिद्ध गायक हस्सु खाँ के शिष्य थे । इन्होंने अपने पुत्र को ध्रुपद और सितार वादन की शिक्षा देना प्रारम्भ किया । शिक्षाक्रम की उन्नति के साथ-साथ सौरीन्द्रमोहन को क्रमशः संगीत-विज्ञान की विभिन्न शैली एवं घरानों के वैचित्र्य तथा विभिन्न मतों ने आकृष्ट किया । फलस्वरूप प्रख्यात बीनकार

स्व. लक्ष्मीप्रसाद मिश्र के पास इनकी वीणा तथा कण्ठ-संगीत की शिक्षा प्रारम्भ हुई । लक्ष्मीप्रसाद के दो ज्येष्ठ भ्राता स्व. गोपालप्रसाद मिश्र और शारदासहाय मिश्र ने पाथुरियाघाटा आकर सौरीन्द्रमोहन के संगीताचार्य का पद अलंकृत किया । इनसे सौरीन्द्रमोहन ने टप्पा और कव्वाली गीतों की प्राथमिक शिक्षा आरम्भ की । उसी समय विष्णुपुर के क्षेत्रमोहन गोस्वामी ने भी इनके संगीताचार्य का पद ग्रहण किया था ।

इस प्रकार सौरीन्द्रमोहन की ज्ञानार्जन की जिज्ञासा उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली गई। उसी समय से ही आपको बंगाल तथा उत्तर भारत के अनेक बड़े-बड़े संगीत महारथी का सान्निध्य मिली। उक्त कलाकारों के आगमन का कारण यह नहीं था कि राजा सौरीन्द्रमोहन ने इन सबको आचार्य रूप में ही ग्रहण किया, अपितु तत्कालीन भारत के विभिन्न घरानों का ज्ञानार्जन करने के उद्देश्य से ही आप इन कलाविदों का सम्मेलन कराते थे । इस सम्मेलन पर विचार करने से प्रमाणित होता है कि सौरीन्द्रमोहन ने ही सर्वप्रथम संगीत सम्मेलन की वास्तविकता समझी और आंशिक रूप में सफलता भी प्राप्त की। अनेक प्रतिभाधर संगीत कलाविदों की शिक्षा एवं साहचर्य के कारण सौरीन्द्रमोहन ने प्राचीन राग-रागिनियों के विषय में नव-परिकल्पना स्थिर की और निष्ठा के साथ संगीत सम्बन्धी ग्रन्थादि की रचना भी प्रारम्भ कर दी ।

भारतीय संगीत के साथ-साथ आप युरोपीय संगीत का सचेष्ट अनुशीलन करते रहे । लाखों रूपए व्यय करके आपने देश-विदेश के असंख्य, दुष्प्राप्य संगीत सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थादि संग्रहीत किए और इस प्रकार विभिन्न देशों के संगीत के सम्बन्ध में ज्ञानार्जन करके निम्नांकित ग्रन्थों की रचना की :- 1. जातीय संगीत विषयक प्रस्ताव (1870) 2. यन्त्रक्षेत्र दीपिका (1872) 3. मृदंग मंजरी (1873) 4. हारमोनियम सूत्र (1874) 5. English Verses set to Hindu Music (1875) 6. यन्त्रकोष (1875) 7. Six Principal Ragas - with a Brief view of the Hindu Music (1876) 8. A few Lyrics of Owen Meredith Set to Hindu music (1877) 9. Hindu music from various Authors (1882) 10. संगीत संग्रह (1884) 11. Nrityankura (1885) 12. कण्ठ कौमुदी 13. ऐक्यतान एवं 14. गान्धर्व कलाप व्याकरण आदि उनके कतिपय प्रमुख प्रकाशन अपने युग का स्वतः प्रदर्शन करते हैं ।

Ashok Da. Ranade के अनुसार, "Sri Sourindra Mohan Tagore is another great figure of those days and is well-known for his patronage to music, between 1867 and 1896, he published a number of books of music among which 'The Universal history of music' needs special mention". यह ग्रन्थ अत्यधिक प्रचलित हुआ । संगीत के अनेक विषयों, जैसे - भारतीय राग और तालों की प्रकृति, वाद्यों तथा वादनशैली, नए गीत प्रकार, संगीत-शिक्षा पद्धति, स्वरलिपि पद्धति और उनके प्रयोग, आदि विषयों को उनके लेख में स्थान मिला ।

आपकी सत्यनिष्ठा असफल नहीं हुई। सौरीन्द्रमोहन की ख्याति देश-विदेशों में प्रसारित थी। आपके ग्रन्थादि, प्रबन्ध समूह का विभिन्न युरोपीय भाषाओं में अनुवाद होने के कारण विभिन्न देशों के मनीषियों का ध्यान आपकी ओर आकर्षित हुआ था। युरोप के अनेक राष्ट्रों ने आपको विभिन्न प्रकार के पदकादि उपहार देकर आपके प्रति सम्मान प्रकट किया ।

सौरीन्द्रमोहन विदेश नहीं जा सके; किन्तु विदेश उनका विस्मरण न कर सका । विदेशी गुणीवृन्द आज भी उनको यथोचित श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं । इसका प्रमाण हमें मोजार्ट, बीथोविन आदि के संगीत प्रसंग की चर्चा में सौरीन्द्रमोहन का उल्लेख देखकर मिलता है ।

सौरीन्द्रमोहन के समकालीन इतिहास का मनन करने पर हम देखते है कि उस समय बंग जननी रत्नगर्भा थी । यह देखा जाता है कि राजा राममोहन को युग निर्माता का स्थान दिया गया। ऋषि बंकिमचन्द्र जाति को 'वन्दे मातरम्' मन्त्र द्वारा दीक्षित करते हुए प्रतीत होते है, कुसंस्कारों की निवृत्ति माईकेल मधुसूदन के गम्भीर छन्दों द्वारा होती है, रामकृष्णदेव परमहंस का सन्देश है, 'जतो मत ततो पथ' (जितने मत उतने ही रास्ते), दया के सागर विद्यासागर शिक्षा विस्तार का आसन ग्रहण करते हैं, विश्वकवि रवीन्द्रनाथ, सर्वत्यागी देशबन्धु, श्री अरविन्द ऋषि, युग-विप्लवी विवेकानन्द, नट-गुरू गिरीशचन्द्र और वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र, प्रफुल्लचन्द्र आदि उस युग के असंख्य प्रमुख रत्न थे ; उन्हीं में संगीत-विज्ञान की निष्ठा के साथ गम्भीर अभ्यास करनेवाले एक रत्न राजा सर सौरीन्द्रमोहन ठाकुर हुए। श्री सौरीन्द्रमोहन आत्मद्रष्टा थे । उन्होंने देखा कि आत्म-विस्मृत जाति में पुनः प्राण लाने के लिए उसके पुनरोत्थान का इतिहास स्पष्ट शब्दों में लिखने की विशेष आवश्यकता है।

केवलमात्र राजनीतिक स्वाधीनता अर्जित करने के तथ्य एकत्रित करने से ही किसी भी जाति का सत्य इतिहास निर्मित नहीं हो सकता । इस इतिहास को पूर्ण करने के लिए विस्मृति पटल को हटाकर अपनी संस्कृति की जितनी भी गौरवमय कथाएँ हैं उनको इकट्ठा करना आवश्यक है ।

हम देखते हैं कि उस समय की समाज व्यवस्था में बंगाली सज्जनों को व्यक्तिगत रूप से संगीत का अभ्यास करना अमर्यादा सूचक था, किन्तु उसी युग में सौरीन्द्रमोहन निष्ठा के साथ संगीत-विज्ञान की अभ्यास कर रहे थे । केवलमात्र वेतनभुक्त उस्तादों से उन्होंने स्वान्तः सुखाय लाभ नहीं लिया था । इस ऋषितम ब्राह्मण सन्तान की कठिन साधना का प्रमाण वर्तमान भारतीय संगीत-समाज है ।

सौरीन्द्रमोहन ने ही सर्वप्रथम इस बात का प्रयास किया था कि महलों की चहारदीवारी से निकलकर संगीत, जन-संगीत बने और इसके निमित्त उनके प्रयासों में 'बंग संगीत विद्यालय' और 'Bengal Academy of Music' की स्थापना एक श्रेष्ठतम तथा अपूर्व सूझ थी । उक्त दोनों संस्थानों का संचालन सौरीन्द्रमोहन अपने ही द्रव्य से करते थे ।

उनका देहावसान 5 जून सन् 1914 ई. को हो गया । संगीत-जगत में सौरीन्द्रमोहन का योगदान भारत तथा बंगाल की अमूल्य सम्पदा है ।

कृष्णधन बैनर्जी

संगीत-जगत में कृष्णधन बैनर्जी एक उज्ज्वल नाम हैं । उनका जन्म सन् 1846 में कोलकाता में हुआ। कम उम्र से ही उनको संगीत का अनुराग था । किशोर अवस्था में कृष्णधन मंच पर अभिनय करते थे और इस अभिनय क्षेत्र में ही वो क्षेत्रमोहन गोस्वामी से मिले और उनसे प्रभावित होकर उनके शिष्य बने । पाथुरियाघाटा के प्रसिद्ध ध्रुपद गायक तथा वीणावादक हरप्रसाद बैनर्जी के पास भी उन्होंने ध्रुपद शिक्षा प्राप्त की । उस समय युरोपीय वाद्य पियानो को भी उन्होंने अच्छी तरह से सीखा था । कुछ दिन उन्होंने ग्वालियर में स्कुल शिक्षक एवं कूचबिहार में stamp officer की नौकरी की थी । कूचबिहार में सन् 1867 में उन्होंने 'ऐकतान' वादन सम्बन्धी 'बंग-ऐकतान' नामक ग्रन्थ की रचना की, जो युरोपीय स्टाफ़ नोटेशन एवं Tonic Solfa दोनों की सहायता से रची हुई नयी स्वरलिपि पद्धति का ग्रन्थ है।

उनका कहना है कि उसी ग्रन्थ में ही हिन्दुस्तानी संगीत का पहली स्वरलिपि प्रकाशित हुई । दूसरे साल अर्थात् सन् 1868 में उनके दो ग्रन्थ प्रकाशित हुए । 1. Hindusthani airs arranged for the Pianoforte, भारतीय संगीत में युरोपीय स्वर-संगति (Harmony) के प्रयोग के विषय में यह एक बहुमूल्य ग्रन्थ है । 2. संगीत-शिक्षा ।

सन् 1872 में कृष्णधन डिप्टी मजिस्ट्रेट की पद पर उत्तरबंग गए, परन्तु ज्यादा दिन तक नौकरी नहीं कर पाए, क्योंकि संगीत में उनका आकर्षण प्रबल था । अत: आप कोलकाता वापस आये और एक संगीत विद्यालय की स्थापना की । सन् 1873 में उनका 'सितार शिक्षा' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ । उसके बाद फिरसे वो नौकरी करने कूचबिहार गए । वहाँ उनकी संगीत चर्चा तथा गवेषणा चलती रही । कूचबिहार में आपने सम्पूर्ण रूप से संगीत गवेषणा में खुदको समर्पित किया । उस समय उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'गीत सूत्रसार' का पहला भाग (1885) एवं दूसरा भाग (1886) की रचना की । यह ग्रन्थ बंगला भाषा में है । इस ग्रन्थ में उन्होंने अनेक ध्रुपद और ख्याल अपनी स्वरलिपि पद्धति में प्रकाशित किए है । मूर्च्छना, ग्राम-राग आदि का विस्तार पूर्वक वैज्ञानिक विवेचन इस पुस्तक में बड़े स्पष्ट रूप से किया गया है । इसके अतिरिक्त संगीत के विभिन्न अंगों पर भी इस पुस्तक में काफी लिखा गया है । वर्तमान संगीत सम्बन्धी ग्रन्थों में इस ग्रन्थ को उच्चकोटि के ग्रन्थों की श्रेणी में गिना जाता है । सन् 1899 में उनका ग्रन्थ 'हारमोनियम' की रचना हुई । इस ग्रन्थ में उन्होंने हारमोनियम वाद्य की उपयोगिता के विषय पर वैज्ञानिक विचार-विमर्श किया हैं । संगीत की सभी शाखाओं में उनका विशेष ज्ञान था । उनकी रची हुई स्वरलिपि पद्धति को संगीत-जगत में विशेष स्थान नहीं मिला, परन्तु वो अपने मत तथा आदर्श से नहीं हटे । सत्य आदर्श के प्रति उनकी जिस प्रकार मानसिक दृढ़ता थी वो संगीत-जगत में कम देखने को मिलती है । सभी नयी सृष्टि का उन्होंने स्वागत किया । ठुमरी के वैचित्र्य का उन्होंने विशेष समर्थन किया । अत: संगीत के विषय में वे कितने प्रगतिशील थे उसे हम सरलता से समझ पाते हैं । बांग्ला भाषा में ध्रुपद, ख्याल आदि के प्रचार-प्रसार के लिए लेखक एवं गायकों को उन्होंने जो विनय पूर्वक निवेदन किया था, उससे हमें बंगाली कृष्णधन का एक नया परिचय मिलता है । कूचबिहार में नौकरी सम्पन्न होने के बाद कृष्णधन बैनर्जी असम के गौरीपुर राज्य में राजा प्रतापचन्द्र बडुया के संगीत शिक्षक बनकर वहाँ रहने लगे एवं सन् 1904 में गौरीपुर में ही उनका देहान्त हो गया।

बंगाल का यह संगीतकार अपने समय का बहुत लोकप्रिय एवं प्रतिभाशाली विद्वान हुआ है । 19वीं सदी के विख्यात शास्त्रकार तथा संगीतज्ञ विष्णुनारायण भातखण्डे जी ने उनके ग्रन्थों में इस प्रसिद्ध ग्रन्थकार के मत को स्वीकार किया तथा श्रद्धा के साथ उनके नाम का उल्लेख किया । इस संगीत शास्त्रकार के सांगीतिक योगदान परवर्ती शास्त्रकारों के लिए बहुत ही सहायक सूचित हुए ।

द्विजेन्द्रलाल राय

कवि, नाट्यकार तथा गायक द्विजेन्द्रलाल राय ने सन् 1863 की 19 जुलाई बंगाल के कृष्णनगर (नदीया जिले) में जन्म लिया। आप कृष्णनगर महाराजा के दीवान श्री कार्तिकेयचन्द्र राय महाशय के कनिष्ठ पुत्र थे । कलाक्षेत्र में आपका विशेष प्रेम था ।

सन् 1884 में एम. ए. पास करने के बाद आप कृषिविद्या सीखने के लिए सरकारी छात्रवृत्ति लेकर इंग्लैण्ड गए । विदेश रहकर भी संगीत तथा साहित्य चर्चा में आपने काफी समय व्यतीत किया । तीन साल बाद देश वापस आकर आप डिप्टी मजिस्ट्रेट के पद पर नौकरी करने लगे । सरकारी कार्य में नियुक्त रहकर भी आप बांग्ला साहित्य-संस्कृति की सेवा करते रहे । अनेक प्रबन्धों की भी आपने रचना की, परन्तु आपके हास्य रस के संगीत, स्वदेशी संगीत तथा नाटक रचनाओं के द्वारा ही आपको प्रसिद्धि मिली । यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि आपकी हास्य रस की रचनाएँ सिर्फ लोगों को हँसाने के लिए नहीं रची गई थीं । उन रचनाओं में ऐसी दृढ़ता थी जिससे उस काल की अवलम्बनहीन जाति को समाज-संस्कृति-धर्म आदि विषयों की परिस्थिति के बारे में बोध कराने का प्रयास किया गया ।

द्विजेन्द्रलाल का रचा हुआ स्वदेशी संगीत बंगाल की अमूल्य सम्पदा है । इन रचनाओं में एक प्रकार का अपूर्व तेज है, जो देशवासियों के मन में स्वदेश प्रीति जागृत करने में सहायक हुआ था । आप एक देश-प्रेमी थे । शिक्षा प्राप्ति के लिए आप विदेश ज़रूर गए थे, परन्तु आप के देश-प्रेम में कोई कमी नहीं हुई थी । आप पाश्चात्य संगीत के भी ज्ञानी थे । वही ज्ञान का प्रकाश आपके स्वदेशी संगीत में मिलता है, जो बांग्ला गीतों को और आगे बढ़ाता है । यह संगीत आपने कोमलता एवं बलिष्ठता के मिश्रण से रचा है । सन् 1886 में आपकी 'Lyrics of India' ग्रन्थ इंग्लैण्ड से प्रकाशित हुआ था । इस ग्रन्थ में परवर्ती रचनाओं का आभास मिलता है । आपकी रचना 'धनो धान्ये पुष्पे भरा आमादेर एई बसुन्धरा'

एवं 'बंगो आमार जननी आमार धात्री आमार आमार देश' अधिक लोकप्रिय हुई तथा इन रचनाओं ने उस काल में बंगाल प्रदेश में काफी उत्तेजना की सृष्टि की थी । आपका यह संगीत कोरस गीतों का पर्यायभुक्त है । यह संगीत जीवन में नया मोड़ देता है एवं पराधीन जाति के मन में स्वाधीनता का भाव जागृत करता है । आपका नाट्य-संगीत भी काफी लोकप्रिय हुआ। इन रचनाओं में स्वाधीनता संग्राम का ऐतिहासिक विवरण मिलता है ।

द्विजेन्द्रलाल ने जिस समय संगीत रचना आरम्भ की थी, उस समय को बंगाल की संगीत-जगत का आधुनिक युग माना जाता है । संगीत का नया युग होते हुए भी पुराने नियमों को छोड़ना कठिन था । इस कठिनाई का सामना करने के लिए आपको प्रवीण संगीत-समाज का बहुत तिरस्कार सहना पड़ा । आज-कल संगीत रचनाओं में पाश्चात्य शैली का प्रयोग काफी होता है, परन्तु द्विजेन्द्रलाल ने उस काल में ही युरोपीय संगीत के मिश्रण से अति सरल एवं निपुणता से बांग्ला संगीत में नयी वैचित्र्यपूर्ण शैली की सृष्टि की थी । उसी कारण प्रवीण संगीत चिन्ताविदों का विचार आपको ज्यादा व्याकुल नहीं कर पाया । पाश्चात्य एवं भारतीय दोनों संगीत का अच्छा ज्ञान होने के कारण आप युरोपीय शैली की सहायता से बांग्ला संगीत रचना में समर्थ हुए । कई विद्वानों ने उन्हें समर्थन नहीं किया, परन्तु कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर का पूरा साथ उनको मिला था । आप एक कोमल ह्रदय के व्यक्ति थे । आपका रचा हुआ काव्य-संगीत, प्रेम-संगीत एवं भक्ति-संगीत भी बहुत प्रसिद्ध हुआ। यह सभी रचनाओं में कोमलता का स्पर्श मिलता है । आपकी रची हुई काव्य-संगीत - 'ओई महा सिन्धुर उपार होते की संगीत भेसे आसे', 'जेदिन सुनील जलधि हइते उठिलो जननी भारतवर्ष', प्रेम-संगीत - 'मलय आसिया कोये गेछे काने', भक्ति-संगीत - 'ओ के गान गेये चले जाय' आदि जैसी अनेक रचनाओं से आपकी ह्रदयानुभूति का प्रकाश मिलता है ।

सन् 1913 की 16 मई को आपका देहान्त हो गया। आपकी इस सांगीतिक योगदान को बंगाल का संगीत-जगत कभी भूल नहीं सकता ।

रजनीकान्त सेन

बंगाली संगीत-जगत का एक स्मरणीय नाम है रजनीकान्त सेन । आपका जन्म सन् 1865 की 16 जुलाई को पूर्वी बंगाल के पाबना जिले के अन्तर्गत सिराजगंज में भांगाबाड़ी नामक गाँव में हुआ। आपके पिता गुरूप्रसाद सेन एक संगीतज्ञ थे । आपने बाल्यकाल से ही पिता के पास संगीत-शिक्षा प्राप्त की ।

राजशाही में कॉलेज की पढ़ाई समाप्त करके आपने कोलकाता से बी. ए. पास किया। उसके बाद वापस राजशाही लौटकर वकालत करने लगे । उस समय से पूर्ण रूप से आप संगीत साधना में व्यस्त रहते थे । वकालत व्यवसाय में आप मन नहीं लगा पाए, क्योंकि आपको संगीत, साहित्य, कविता, नाट्यकला आदि में ही प्रेम था । आप एक अच्छे गायक भी थे । कोई भी महफ़िल, मज़लिशों में स्वरचित गायन प्रस्तुत करने के बाद महफ़िल जम उठती थी । इसी कारण प्रमथनाथ बिशी महाशय ने आपको 'उत्सवराज' की उपाधि प्रदान की थी ।

रजनीकान्त की रचनाएँ सरल सुर एवं भाषा के प्रयोग से बनी है । संगीत में सरल तथा सुन्दर रचनाएँ कम देखने को मिलती है, क्योंकि सीधे तरीके से सीधी भाषा तथा सुर का प्रयोग सभी लोग नहीं कर सकते । आपके संगीत में अलंकारों का प्रयोग कम है एवं शान्त रस मुख्य होने के कारण सभी तरह के श्रोताओं के पास यह संगीत आदरणीय रहा । आपने अनेक रागों के आश्रय से भी धुन बनाई, परन्तु आपकी रचनाओं में रागों का प्रत्यक्ष प्रकाश नहीं मिलता है । ज्यादा से ज्यादा रचनाएँ पवित्रता एवं शान्त रस से भरी हुई है । यही उनके संगीत का वैशिष्ट्य है । सन् 1902 में आपका पहला ग्रन्थ 'बाणी' एवं सन् 1904 में दूसरा ग्रन्थ 'कल्याणी' प्रकाशित हुआ। दोनों ही संगीत के ग्रन्थ हैं । इन ग्रन्थों के प्रकाशित होने के बाद ही आपका नाम चारों तरफ फैल गया। बंगाल में उस समय कविता तथा गीतों के ग्रन्थों का आदर कम था, किन्तु 'बाणी' एवं 'कल्याणी' ने जो समादर प्राप्त किया उसे कहने की आवश्यकता नही है ।

रजनीकान्त ने अनेक प्रकार के संगीत ग्रन्थों की रचना की, जैसे - भक्ति-संगीत, भगवत-विश्वास, स्वदेशी संगीत, हास्यरस की संगीत, प्रेम-संगीत एवं जीवन-संगीत आदि । यहाँ कहना आवश्यक है कि भक्ति रस की रचना ही आपकी सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है । उसमें भाषा तथा धुन का सुन्दर समन्वय है, जो आपका अपना परिचय वहन करती है । ऐसा एक संगीत हैं - 'तुमि निर्मल कर मंगल कर मलिन मर्म मुछाए' (भैरवी में) । आप एक बड़े ही ईश्वर भक्त थे । आपकी यह भक्ति का प्रकाश आपके गीतों में सुन्दर रूप से मिलता है । आप एक देश प्रेमी थे। देशवासियों के साथ आप का आत्मीय सम्बन्ध था । यह प्रकाश भी आपकी रचनाओं में मिलता है । आपने जो स्वदेशी संगीत की रचना की उसने उस काल की जनता में एक विशेष उन्माद की सृष्टि की थी । खास करके 'माएर देवा मोटा कापड़ माथाए तुले नेरे भाई,

दीन दुःखिनी मा जे तोदेर तार बेशी आर साध्य नाई' यह रचना बहुत लोकप्रिय हुई एवं लोगों की मुँह में हर समय रहती थी । इसके अतिरिक्त अनेक रचनाएँ है, जैसे - 'जागो सुमंगलमयी मा', 'जय जय जन्मभूमि जननी', 'नमोः नमोः नमोः जननी बंगो', 'उत्सवमयी श्याम धरणी सरसा' आदि भी बहुत लोकप्रिय हुई। आपकी हास्यरस की रचनाओं में भी उस काल की राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का चित्र मिलता है ।

आपका काव्य-संगीत, प्रेम-संगीत, जीवन-संगीत आदि बंगाल की अमूल्य सम्पदा है । सभी रचनाओं में छन्द एवं सुर का सुन्दर समन्वय तथा वैचित्र्य मिलता है । पाश्चात्य शैली का प्रयोग आपने नहीं किया ।

आपकी मृत्यु सन् 1910 में हो गई। बहुत कम उम्र में मृत्यु हो जाने के कारण आपकी सृष्टि और आगे नहीं बढ़ पायी । द्विजेन्द्रलाल के पुत्र दिलीपकुमार राय ने आपके संगीत का काफी प्रचार-प्रसार किया। इसके अतिरिक्त अनेक गुणी गायक-गायिकाओं ने भी आपकी संगीत को और आगे बढ़ाया । आज भी आपकी रचनाओं की मर्यादा उच्च स्थान पर है।

अतुलप्रसाद सेन

बंगाली संगीत-जगत का एक विशेष नाम है अतुलप्रसाद सेन। आपका नाम बंगाल के रसिक श्रोताओं के मन में उज्ज्वल होकर रहा है । आपका जन्म सन् 1871 की 26 अक्तूबर को पूर्वी बंगाल के ढाका जिले में हुआ। सिर्फ 13 साल कि उम्र में पिता की मृत्यु हो जाने के कारण आप अपने नाना कालीनारायण गुप्त के पास रहने लगे । वहाँ ही आपकी संगीत-शिक्षा शुरू हुई। सन् 1890 में स्कुल की पढ़ाई समाप्त होने के बाद आप कोलकाता प्रेसिडेन्सी कॉलेज में भरती हुए । कॉलेज के बाद आप इंग्लैण्ड गए और सन् 1894 में बैरिस्टरी पास करके स्वदेश वापस लौटे । इंग्लैण्ड रहते समय आपने पाश्चात्य नाट्यकला, चित्रकला एवं संगीत-कला के प्रति आकृष्ट होकर इन सभी का विशेष ज्ञान प्राप्त किया । आपने भारतीय एवं पाश्चात्य संगीत के तुलनात्मक एक गवेषणा ग्रन्थ की अंग्रेज़ी भाषा में रचना की। उस ग्रन्थ में भारतीय संगीत के वैशिष्ट्य तथा अनेक बहुमूल्य विशिष्टतायों की जानकारी दी गई जिससे पाश्चात्य गुणीगण बहुत प्रभावित हुए एवं पाश्चात्य संगीत-समाज में इस ग्रन्थ का उचित आदर रहा ।

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
M.S. University of Baroda
51

अतुलप्रसाद का कर्म-जीवन लखनऊ शहर में शुरू हुआ था । उस समय से राजनीतिक क्षेत्र में भी आपका बहुत योगदान रहा । आप एक जनदरदी व्यक्ति थे । [illegible]जीवित अवस्था में ही जन-कल्याण के लिए आपने बहुत सम्पत्ति दान कर दी थी । हिन्दू-मुसलमान दोनों सम्प्रदाय के लोगों के आप प्रिय थे । वर्तमान में 'निखिल भारत बंगो साहित्य सम्मेलन' का जो कार्यक्रम भारत के विभिन्न स्थानों में होता है, उस संस्था की स्थापना कवि अतुलप्रसाद सेन एवं कानपुर के डॉ. सुरेन्द्रनाथ सेन के प्रयास से ही हुई थी । वाराणसी से 'उत्तरा' नामक जो पत्रिका आज भी प्रकाशित होती है वह उनके ही प्रयास और साधना का फल है ।

अतुलप्रसाद की रचना संख्या बहुत ज्यादा नहीं है । आपकी रचनाओं को 'काकली' 'कयेकटि गान' एवं 'गीतगुंज' इन तीन ग्रन्थों में स्थान मिला है । उतनी रचनाओं से ही आप बांग्ला संगीत में नयी वैचित्र्य सृष्टि करके अपना परिचय छोड़ गए । आपकी रचना अनेक प्रकार की है, जैसे - राग-प्रधान गान, स्वदेशी गान, लोक-शैली का गान, कीर्त्तन, काव्य-संगीत, प्रेम-संगीत, गज़ल, ऋतु-संगीत आदि । बंगाल में आधुनिक राग-प्रधान बांग्ला गीतों का स्रष्टा अतुलप्रसाद सेन को ही माना जाता है। बांग्ला संगीत के कोमल भाव के साथ हिन्दुस्तानी राग-रागिनियों के मिश्रण से आपने एक नयी गीत शैली को जन्म दिया। शास्त्रीय संगीत के नियमों का अनुसरण करके ही अपने संगीत में रागों का मिश्रण किया है । आपके अनेक गीतों में शास्त्रीय संगीत का वैशिष्ट्य मिलता है। आपके संगीत में और एक वैशिष्ट्य है टप्पा तथा ठुमरी शैली का प्रयोग । रवीन्द्रनाथ के संगीत में ध्रुपद एवं द्विजेन्द्रलाल के संगीत में ख्याल शैली का जिस प्रकार प्रयोग मिलता है, ऐसे ही अतुलप्रसाद ने टप्पा एवं ठुमरी शैली को अपनाया। इस प्रयोग तथा मिश्रण से आपने काफी सफलता प्राप्त की। आपकी यह रचनाएँ आज तक श्रोता हृदय को स्पर्श करती हैं।

अंग्रेज़ शासन काल में मानसिक रूप से कमज़ोर देशवासियों के मन में स्वदेश-प्रेम की प्रेरणा जागृत करने के लिए जिन रचनाकारों ने संगीत को माध्यम बनाया उनमें अतुलप्रसाद सेन अन्यतम हैं । आपकी 'उठगो भारतलक्ष्मी', 'बल बल बल सबे', एवं 'हओ धर्मेते धीर हओ कर्मेते बीर' आदि रचनाएँ उस समय काफी प्रचार में थी । अनेक स्वदेशी रचनाओं में भी आपने शास्त्रीय रागों का प्रयोग किया। उस काल के हिन्दू-मुस्लिम लड़ाई का उन्होंने

निरीक्षण किया जिससे आप बहुत दु:खी हुए थे । उस परिस्थिति को सुधारने कि प्रयास में भी उन्होंने संगीत रचना का सहारा लिया। स्वदेशी संगीत के रचना काल में आप कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं आग्रा निवासी बंगाली कवि गोविन्दचन्द्र राय द्वारा प्रभावित हुए थे । अनेक गीतों के रचना काल में आपकों कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर से प्रेरणा मिली। अत: आपका संगीत रवीन्द्र संगीत के साथ कुछ मिलता-जुलता है, परन्तु ध्यान देने से दोनों को पृथक किया जा सकता है । गुणियों का कहना है कि अगर रवीन्द्र संगीत को प्रार्थना कहा जाय, तो अतुलप्रसाद के संगीत को प्रणाम कह सकते हैं । कीर्त्तन, रामप्रसादी, बाउल, भटियाली आदि आपका प्रिय संगीत था । अत: आपने रचनाकाल में इन धुनों के सहारे से एवं उसमें अल्प रागों का मिश्रण, रवीन्द्र संगीत का भाव तथा ठुमरी के सामान्य प्रयोग से एक निजी शैली की सृष्टि की।

जीवन के ज्यादा समय आप बंगाल से बाहर रहे । अत: बंगाल की स्निग्ध, कोमल प्रकृति के प्रति आपका बड़ा ही प्रेम था । वही प्रेम आपके ऋतु-संगीत में मिलता है । आपकी बांग्ला रचना के विषय में कहा जाता है कि उस काल से लेकर आज तक अनेक बांग्ला गज़लों की रचना हुई है, परन्तु जो रचना आपने की थी उसके समतुल्य रचनायें आज भी नहीं मिलती है ।

कवि अतुलप्रसाद साधक थे । आपका वैयक्तिक जीवन बहुत ही दु:खपूर्ण रहा। इसी शोक ने आपके काव्यभाव को प्रेरणा दी। फलस्वरूप एक नयी गीत-रीति का जन्म हुआ। ग्येटे का कहना है, "व्यक्तिगत शोक तब ही सार्थक होता है, जब उस शोक के द्वारा आसमान के तारों जैसा एक भी गाना प्रस्फुटित होता है"। इसी कारण अतुलप्रसाद सेन की वैयक्तिक शोक ने तारों जैसे ही संगीत को आसमान में प्रस्फुटित किया । सन् 1934 के 26 अगस्त को आपका देहान्त हो गया।

बाल्यावस्था से जीवन के विभिन्न कार्यों में नियुक्त रहकर भी संगीत के प्रति गम्भीर ममता एवं संगीत-तीर्थ लखनऊ शहर में स्थायी रूप से निवास करने के कारण आप एक नए बांग्ला संगीत को जन्म देने में समर्थ हुए थे । बंगाल के संगीत-जगत में आज भी आपका संगीत 'अतुलप्रसादी संगीत' नाम से सर्व परिचित है ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

जगत के श्रेष्ठ कवियों में अन्यतम हैं कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर । आपकी प्रतिभाएँ अनेक है । इन प्रतिभाओं के आलोक ने बंगाल तथा भारत के संगीत-जगत को सिर्फ आलोकित ही नहीं किया बल्कि सूर्यलोक जैसे एक नए जगत की भी सृष्टि की है ।

कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म सन् 1861 की 7 मई को हुआ । आपने कोलकाता के विख्यात जोड़ासाँको ठाकुर परिवार से प्रिन्स द्वारकानाथ ठाकुर के पौत्र एवं महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के पुत्र रूप में जन्म लिया । आपके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर एक सत्यवादी, उदार, धार्मिक तथा जनदरदी व्यक्ति होने के कारण लोग उन्हें महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर कहकर पुकारते थे । देवेन्द्रनाथ ठाकुर एक अच्छे संगीतकार भी थे । उन्होंने बहुत से ब्रह्मसंगीतों की रचना की थी एवं राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद ब्रह्मसमाज को और आगे बढ़ाने में उनका तथा पूरे ठाकुर परिवार का बहुत योगदान रहा ।

एक शैल्पिक परिवार में जन्म लेने के कारण बाल्यावस्था से ही रवीन्द्रनाथ को संगीत-साहित्य-संस्कृति का बोध पैदा होने लगा था । शैशव काल से ही आपने कविता लिखना शुरू कर दिया था । उस समय से आपकी प्रतिभा का प्रकाश होने लगा । किशोर अवस्था में आपने वैष्णव पदकर्ताओं का अनुसरण करके 'भानुसिंहेर पदावली' की रचना की तथा जीवन के अन्त तक साहित्य सेवा में खुदकों उत्सर्ग किया । आपकी बहुत सी साहित्य सृष्टि भारत तथा दुनिया की अमूल्य सम्पदा है । आप चित्रकला में भी विद्वान थे ।

आपकी रचनाओं को अनेक भागों में विभक्त किया जा सकता है, जैसे - कविता, गान, नाट्य-काव्य, गद्यनाट्य, गीतिनाट्य, नृत्यनाट्य, उपन्यास, कहानी, गद्यकविता, जीवन-कथा, प्रबन्ध, भ्रमण-कथा, शिक्षा, भाषा, पत्र-साहित्य, पत्रावली, धर्म, शिशु-साहित्य, विज्ञान आदि । उनके रचित गीतवितान, गीतांजलि, गीताली, गीतिमाल्य आदि संगीत ग्रन्थ है । उन्होंने जो नाट्य-संगीत की रचना की उनमें चित्रांगदा, श्यामा, चण्डालिका, वाल्मीकि प्रतिभा, शापमोचन, ऋतुरंग, श्रावणगाथा, मायार-खेला आदि नाटक उल्लेखनीय है । यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि उक्त नाटक रचनाएँ संगीत और नृत्य सम्बन्धित है । सन्दर्भ के विषयानुसार हम रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अनेक प्रतिभाओं से उनकी सांगीतिक प्रतिभा को चर्चा

तथा योगदान को ही शोध-प्रबन्ध के अन्तर्गत रखेंगे । संगीत-जगत में कविगुरू को हम एक महान ऋषि जैसे पाते हैं । उन्होंने संगीत की एक नयी विधा को जन्म दिया । उसी विधा का नाम है 'रवीन्द्र संगीत', जिसका प्रभाव सम्पूर्ण पूर्वी भारत पर तो है ही, अन्यत्र भी उसे गाया-बजाया जाता है ।

रवीन्द्रनाथ ने जिस घर में जन्म लिया वहाँ ईसाई धर्म से सम्बन्धित वातावरण अधिक था । उन्होंने धर्म का मर्म समझा और प्रकृति से उन गहराईयों को जाना, जो संगीत, काव्य, नृत्य और शिल्प आदि कलाओं को जन्म देती हैं । इसलिए रवीन्द्रनाथ प्रकृति की गोद में विचरण करते हुए मानव की संवेदना और जगन्नियन्ता की आराधना करते रहे । उनकी वाणी से जो भी शब्द निकलते, वे संगीत की लय बन जाते और रवीन्द्रनाथ उसमें अवगाहन करते हुए संसार को सुख, शान्ति और करूणा का सन्देश देते ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर बंगाल के ख्याति प्राप्त विष्णुपुर घराने से प्रभावित हुए । आप ख़्याल गायन की अपेक्षा ध्रुपद गायन से अधिक प्रभावित थे । आपके बड़े भाई ज्योतिरिन्द्रनाथ संगीत-कला के प्रति बड़े ही समर्पित थे, जिन्होंने आपके विकास और संगीत-कला के प्रति आपको प्रेरित करने के लिए बहुत योगदान दिया ।

रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर संगीत-कला के संरक्षक थे । भारत के सभी भागों से बड़े-बड़े संगीतकार आकर उनके घर में ठहरते और कला प्रदर्शन करते थे तथा परिवार को संगीत-विद्या सीखाते थे । इनमें विष्णु चक्रबर्ती, जदु भट्ट, सुरेन्द्रनाथ बन्दोपाध्याय, रामप्रसाद मिश्र, जगतचन्द्र गोस्वामी, राधिकाप्रसाद गोस्वामी और श्यामसुन्दर मिश्र के नाम उल्लेखनीय है । इस प्रकार बचपन से ही रवीन्द्रनाथ को बड़े-बड़े संगीतकारों को सुनने का तथा उनसे शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य मिला ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जो संगीत रचनाएँ की, उनमें सरलता तथा काव्य और संगीत के सन्तुलन पर विशेष ध्यान दिया । व्यर्थ की तानबाजी और ध्रुपद के क्लिष्ट लय-बाँट को उन्होंने कभी महत्त्व नहीं दिया । वे कहते थे कि इनसे संगीत रचना और उसमें निहित भाव को गम्भीर हानि पहुँचती है । उन्होंने पूजा-संगीत, ऋतु-संगीत जैसी अनेक विधाओं को प्रचलित किया, जिसकी प्रेरणा उन्हें विष्णुपुर घराने से मिली थी । उनका कहना था कि

शास्त्रीय संगीत सीखने के लिए गले के प्राकृतिक गुण-धर्म को नष्ट करके इतनी बड़ी क़ीमत नहीं चुकाई जानी चाहिए । आवाज़ सदैव मिठास से युक्त और भाव से ओत-प्रोत होनी चाहिए और यही नियम वाद्यों के वादन में भी लागु होता है ।

रवीन्द्रनाथ ने जिन श्रेणियों में गीतों की रचना की, उनके नाम इस प्रकार है - देश-प्रेम, मानव-प्रेम, अनुष्ठान गीत, करूण-गीत, लोक-संगीत पर आधारित गीत, टप्पा गीत, आध्यात्मिक गीत, ऋतु-गीत, शास्त्रीय संगीत पर आधारित गीत, गीति-नाट्य और नृत्य सम्बन्धी। रवीन्द्रनाथ के संगीत प्रधानतः 6 भागों में विभाजित हैं, जैसे - 1. पूजा 2. स्वदेश 3. प्रेम 4. प्रकृति 5. नृत्य नाटक 6. विविध गीत ।

रवीन्द्रनाथ ने अपने संगीत के लिए उत्तर भारत में प्रचलित तत्कालीन ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, भजन, पाश्चात्य ओरल गीत, बांग्ला लोक धुनें एवं मन को आकर्षित करनेवाली सरल तालों की विविध शैलियों को अपनाया । उन्होंने 3000 के लगभग गीत लिखे, जिनमें हिन्दी गीतों के आधार पर रचित गीतों की संख्या 215 है । बांग्ला भाषा में ये गीत 'भाँगा-गान' के नाम से प्रसिद्ध हुए, जिन्हें पूजा गीत या 'ब्रह्मसंगीत' के रूप में गाया जाता है ।

अनेक शास्त्रीय रागों को रवीन्द्रनाथ ने अपने ढंग से प्रस्तुत किया । भारतीय संगीत के आराधना-परक संगीत से वे प्रभावित थे, परन्तु ध्रुपद, धमार और ख्याल आदि विधाओं में जो शब्दों की हत्या कर दी जाती है, उसके वे घोर विरोधी थे । इसलिए उन्होंने शास्त्रीय संगीत और लोक-संगीत के बीच की ऐसी धारा प्रवाहित की, जिसे सम्पूर्ण लोक ने सराहा । रवीन्द्र संगीत को छोटे बच्चे भी सरलता से गाते है और बड़े भी । उसकी सबसे बड़ी विशेषता है भाव का अभिव्यक्तिकरण। इसी कारण रवीन्द्र संगीत के प्रत्येक पद में एक स्थिरता और ठहराव दिखाई पड़ता है ।

वैष्णव-पद, ईसाई प्रार्थनाएँ, समूहगान, उत्तर भारतीय संगीत का ध्रुपद गान, कीर्त्तन, पाश्चात्य ऑपेरा सभी को रवीन्द्रनाथ ने हृदयंगम करके रवीन्द्र संगीत में ढाला था, लेकिन उसका आधार उसकी लोकमान्य सरस शैली थी, जो बिना किसी क्लिष्टता, बिना किसी शास्त्रीय गान और बिना किसी बन्धन के मानव-मन द्वारा निःसृत हो उठती है ।

उसे सीखने की आवश्यकता कम और अनुभव करने की अधिक है । उसमें भावों के आधार पर स्वरों की रचना होती है, स्वरों के आधार पर शब्दों की रचना होती है, शब्दों के अनुरूप छन्द का निर्माण होता है, तत्पश्चात् किसी राग के आधार पर लोक-धुन की शैली में उसे गाया जाता है । उसका एक स्वतन्त्र अस्तित्व है, क्योंकि न उसे शास्त्रीय संगीत कहा जा सकता है और न लोक-संगीत, बल्कि गंगा-यमुना के बीच मिलनेवाली तीसरी सरस्वती धारा का नाम उसे दिया जा सकता है ।

रवीन्द्र संगीत का प्रभाव फ़िल्म-संगीत पर भी पड़ा और वह अधिक लोकप्रिय हुआ । सचिनदेव बर्मन, हेमन्तकुमार, पंकज मल्लिक, पहाड़ी सान्याल, सलिल चौधुरी, अनिल विश्वास आदि संगीतकारों की लोकप्रिय रचनाएँ इसका ज्वलन्त उदाहरण है ।

बहती हुई नदिया की धारा के बीच बहती हुई नाव के चप्पुओं की ताल पर माँझी की पुकार, पनिहारिनों के गीत, खेत को जोतते हुए किसान का उल्लास, गोद में झुलते शिशु की माँ का प्यार भरा लोरी गीत और स्वछन्द विहार करते पक्षियों को देखनेवाले कवि का मन तथा उससे उत्पन्न कल्पना प्रसून भरे गीत रवीन्द्र संगीत की आत्मा है । इसी प्रकार बदलती ऋतुओं का श्रृंगार, विरह की पीड़ा, प्रणय और क्रन्दन, राग-विराग तथा राष्ट्रीय चेतना के दर्शन भी उसमें उतनी ही गहराई से होते है ।

गीत की आवश्यकता के अनुसार कुछ नयी तालों की सृष्टि भी उन्होंने की है जिनमें सिर्फ ताली है, खाली नहीं है । वह ताले है -

1. झम्पक - मात्रा 5, विभाग 2
2. नव-पंच ताल - मात्रा 18, विभाग 5
3. शष्टि ताल - मात्रा 6, विभाग 2
4. रूपकड़ा ताल - मात्रा 8, विभाग 3
5. नव ताल - मात्रा 9, विभाग 4
6. एकादशी ताल - मात्रा 11, विभाग 4

रवीन्द्रनाथ द्वारा रचित ये तालें भारतीय संगीत के लिए एक महत्त्वपूर्ण देन है । उनका कहना था कि ताल एक हिसाबी पक्ष है जिसका प्रयोजन तो है, परन्तु जब वह नियम या

कानुन में जकड़ जाता है तो सब कुछ बर्बाद हो जाता है । ताल भी तो भाव-प्रकाशन का ही एक अंग है, अतः भाव बदलते ही ताल बदलने की आवश्यकता भी समझी जानी चाहिए । काव्य-सृष्टि के निकट तथा शब्द के भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए स्वर के साथ ताल पक्ष को भी थोड़ी-बहुत छूट देना आवश्यक है ।

साहित्य और संगीत में भौतिक और आदि भौतिक विषय के प्रत्येक चित्रण को रवीन्द्रनाथ ने उतारा है। शायद ही ऐसा कोई भाव, रस या स्थिति होगी जिसका वर्णन उनके गीतों में उपलब्ध न हो। उन्होंने अपने गीतों की रचना में कुल 90 राग-रागिनियों को स्थान दिया है। जिनमें भैरवी और भूपाली उन्हें अधिक प्रिय थे । रवीन्द्र संगीत ऐसा सम्पूर्ण संगीत है, जिनमें संगीत के मूल गुणों का समावेश है और जो अपने निरालेपन के कारण भारतीय संगीत-जगत की सहज निर्मल धारा के रूप में सतत प्रवहमान है ।

कविगुरू ने अंग्रेज़ राजशक्ति से देश को आज़ाद करने की चिन्ता से अनेक स्वदेशी गीतों की रचना की, जो पराधीन भारतवासी के मन में देश-प्रेम जागृत करने में बहुत सहायक हुआ । देशवासियों के प्रति ब्रिटिश जन के घृणित व्यवहार के विरोध कवि ने अंग्रेज़ सरकार का दिया हुआ 'नाइट' उपाधि वर्जन कर दी थी ।

नबगोपाल मित्र के प्रतिष्ठित हिन्दू-मेला से ही कवि को स्वदेश-संगीत रचना की प्रेरणा मिली थी । उस मेले का उद्देश्य यही था कि भारतवासिओं के मन में राष्ट्रीय भाव जागृत करके उनको स्वावलम्बी बनाना । इस प्रयास में नबगोपाल मित्र को ठाकुर परिवार से अनेक सहायता मिली थी । उस समय कवि की उम्र किशोर अवस्था की थी । उस उम्र में उनकी रचनाओं को देखकर लोग विस्मित हो जाते थे और बुजुर्ग देश-प्रेमी व्यक्तिओं को भी भरोसा मिलता था ।

सन् 1885 में रवीन्द्रनाथ ने बंकिमचन्द्र की रचना 'वन्दे मातरम्' को नया सुर दिया था । सन् 1885-1892 तक उन्होंने अनेक स्वदेशी गीतों की रचना की । उन रचनाओं में स्वदेश का महत्त्व तथा भारत के अतीत के गौरव का उज्ज्वल चित्र मिलता है ।

रवीन्द्रनाथ के देश-भक्ति के गीतों में साम्प्रदायिकता की तनिक भी गन्ध नहीं है । वे सार्वदेशिक और सार्वकालिक है । भारत को कवि ने हर स्थान पर 'सर्वजातीय मिलन तीर्थ'

बताया है । कहा जाता हैं कि उन्होंने देश-भक्ति के गीत तीन काल में लिखे। 1. बंग भंग पूर्व 2. बंग भंग कालीन और 3. बंग-भंग पश्चात् । उनमें बंग भंग काल को उनकी देश-भक्ति की गीत रचना का श्रेष्ठ समय माना जाता है । सन् 1905 में जब अंग्रेज़ों ने बंगाल के दो-भाग किए तब कविगुरू ने अपने काव्य-साहित्य के माध्यम से देश के सभी सम्प्रदायों को एक होने का आहवान किया था । धरती को उन्होंने माता, पिता, देवता और कहीं प्रभु या मित्र के रूप में देखा । इसलिए उनके काव्य और गीतों में 'भाग्य-विधाता', 'महा-मानव', 'देवता' और पिता आदि शब्दों का आधिक्य दिखाई देता है । उनके कुछ प्रसिद्ध देश-भक्ति के गीत है - 1. यदि तोर डाक शुने केउ ना आसे, 2. आमार सोनार बांग्ला आमि तोमाए भालोबासि, यह गीत को पूर्वी बंगाल तथा वर्तमान बांग्लादेश की राष्ट्रीय संगीत (National song) के हिसाब से चुना गया है । 3. बांग्लार माटि बांग्लार जल बांग्लार वायु बांग्लार फल 4. आजि बांग्लादेशेर हृदय होते 5. जे तोमाए छाड़े छाड़ुक आमि तोमाए घाड़बो ना मा 6. ओ आमार देशेर माटि तोमार परे ठेकाई माथा 7. आजि ए भारत लज्जित है 8. एबार तोर मरा गांगे बान एसेछे जय मा बोले भासा तोरी ।

बंग भंग के बाद सन् 1906 में रवीन्द्रनाथ ने अपनी कण्ठ में 15 स्वदेशी गीतों को रेकॉर्ड किया था । उनकी इस प्रकार की रचनाओं में मातृ-भूमि, मातृ-भाषा तथा देश के प्रति अनुराग आदि का स्पष्ट रूप मिलता है । यहाँ खास उल्लेखनीय है कि उनकी देश-भक्ति की रचनाएँ उत्तेजनापूर्ण नहीं थीं, फिर भी उपर्युक्त रचनाओं ने उस युग में काफी उन्माद की सृष्टि की थी । आज भी ये रचनाएँ जनता को बहुत प्रिय है ।

सन् 1901 में कविगुरू ने शान्तिनिकेतन में 'ब्रह्मचर्याश्रम' नाम के एक विद्यालय की प्रतिष्ठा की थी, जो आज विश्वभारती विश्वविद्यालय (शान्तिनिकेतन) के नाम से प्रतिष्ठित है ।

रवीन्द्रनाथ का 'गीतांजलि' ग्रन्थ सन् 1910 में प्रकाशित हुआ था । इस ग्रन्थ के लिए कवि को सन् 1913 में नोबल (Novel) पुरस्कार मिला था ।

सन् 1914 में प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ। उस समय से ब्रिटिश-भारतीय में लड़ाई चलती रही । ब्रिटिश के विरोध में सभी सभा-समितियों में कवि भाग लेते थे और अपने संगीत-साहित्य के माध्यम से अपना मत प्रकाशित करते थे । अंग्रेज़ों की मनोभावों को देखकर

कवि को बहुत दुःख पहुँचा और उन्होंने ब्रिटिशों की Sir उपाधि का त्याग किया । देश के इतने विरोधाभास में भी कवि ने अपनी साहित्य-साधना में कई कमी नहीं छोड़ी । एक प्रकार से देखा जाय तो रवीन्द्रनाथ काव्य के आसन पर बिराजे एक महान राजनीतिक नेता के पद पर आसीन दिखाई पड़ते है ।

यहाँ उल्लेख करना अत्यावश्यक है कि स्वरलिपि के साथ रवीन्द्रनाथ का संगीत 'स्वर-बितान' नाम से 62 खण्ड में प्रकाशित हुआ है । उन्होंने जिस स्वरलिपि पद्धति का उपयोग किया वह आकार-मात्रिक स्वरलिपि कहलाती है, जो बंगाल में प्रचलित है । कविगुरू भातखण्डे जी और उनकी स्वरलिपि पद्धति से प्रभावित थे, परन्तु उन्हें लगा कि रवीन्द्र संगीत की गहराई को प्रकट करने में वह समर्थ नहीं हो सकेगी, इसलिए आकार-मात्रिक स्वरलिपि को उन्होंने उपयुक्त माना । इस स्वरलिपि पद्धति का प्रवर्तन तथा विकास उन्हीं के बड़े भ्राता ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर ने किया था, जो एक बड़े ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे । इस महान कविवर ने भारत तथा विश्व भ्रमण करके अपने साहित्य भण्डार को भरपूर किया था ।

सन् 1940 में Oxford University ने कवि को डॉ. उपाधि प्रदान की । उस साल से धीरे-धीरे आप अस्वस्थ होने लगे और सन् 1941 की 7 अगस्त को आपका देहान्त हो गया।

18वीं और 19वीं सदी में बांग्ला धुनें, कीर्त्तन, शास्त्रीय संगीत के प्रभाव से रंग गई थी, जिन्हें रवीन्द्र संगीत ने एक नया आयाम दिया, जो लोगों के आनन्द की मार्मिक अनुभूति बनकर रह गया । कविवर की आवाज़ में एक सिद्ध गायक के कण्ठ जैसी मधुरिमा निहित थी, इसलिए वे छन्द की गत्यात्मक तरंग में कवि और गायक का हृदय लेकर एक सम्राट की भाँति विचरण किया करते थे । नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक मूल्यों के उच्च शिखर पर आसीन 'रवीन्द्र संगीत' आज सम्पूर्ण विश्व में प्रतिष्ठित है ।

रवीन्द्र संगीत के परम्परागत कलाकारों में प्रतिभा देवी, सरला देवी, इन्दिरा देवी चौधुरानी, श्रीमती अमिया ठाकुर, अपर्णा देवी, अमला दास, जुथिका राय और वीणापाणि आदि के नाम उल्लेखनीय है ।

काज़ी नज़रूल इस्लाम

बंगाल प्रदेश के एक लोकप्रिय कवि, रचनाकार तथा संगीतकार का नाम है काज़ी नज़रूल इस्लाम । मुगल सम्राट शाह आलम के काल में एक मुसलमान परिवार बंगाल के हाजीपुर को छोड़कर वर्धमान के चुरूलिया गाँव में आकर बस गया था । जिसके किसी वंशज को काज़ी (विचारक) का पद प्राप्त हुआ। इसके बाद इस वंश के लोग अपने नाम के आगे काज़ी जोड़ने लगे । इसी वंश में काज़ी फ़कीर अहमद और ज़ाहिदा खातुन के पुत्र काज़ी नज़रूल इस्लाम का जन्म 24 मई सन् 1899 में हुआ। नज़रूल के पिता फ़किराना प्रकृति के थे, जो एक मज़ार तथा मस्जिद की देखभाल करते थे । घर में दरिद्रता थी । नज़रूल की आयु जब 8 वर्ष थी तभी उनके पिता का निधन हो गया । दरिद्रता के कारण नज़रूल को बचपन में लोग 'दुखुमियाँ' कहकर पुकारते थे । दस वर्ष की उम्र में इन्होंने मखतब की परीक्षा पास की और फिर अरबी-फ़ारसी पढ़ने लगे । धन्धे की खोज में जब इधर-उधर फिरने लगे तो कुछ व्यक्ति इन्हें 'नज़रअली' कहकर पुकारने लगे । इन्होंने घर के दक्षिण में पीर नामक तालाब के सामने मस्जिद में स्थित हाज़ी पहलवान के मज़ार में काफी समय तक काम किया ।

उन दिनों एक व्यंग्यात्मक नौटंकी दल 'लेटो' का काफी प्रचलन था । जिसमें ब्रज प्रदेश के रसिया और ख़याल की तरह काव्यमय प्रतिस्पर्धा होती थी, जिसके कलाकारों को 'कवियाल' कहते थे । नज़रूल लेटो दल में भरती हो गए और नौटंकीवाले कलाकारों के लिए सवाल-जवाब रचने लगे। 11 वर्ष की उम्र में वे इस दल के उस्ताद बन गए तथा हारमोनियम, तबला और बाँसुरी बजाने में भी सिद्धहस्त हो गए । साहित्य और संगीत की इन विशेषताओं से वे लोगों को मन्त्र-मुग्ध कर देते थे ।

धीरे-धीरे नज़रूल की प्रतिभा बढ़ने लगी । कविता, नाटक, संगीत की विधाओं में उनके नाम की ख्याति फैलने लगी । इसी बीच उन्हें एक अच्छे गुरू मिली जिनका नाम कुमुदरंजन मल्लिक, जिन्होंने उन्हें शिक्षा की और मोड़ दिया और वे स्कुल जाने लगे। लेकिन उनकी यायावर वृत्ति ने उन्हें कभी भी स्थिर नहीं रहने दिया और वे घुमते-घामते आसनसोल में आकर बस गए, जहाँ एक बेकरी में उन्हें रोटी बनाने का कार्य मिल गया ।

उनकी मेधाशक्ति को देखकर सियारसोल के महाराज बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने उन्हें सात रूपये महावार की छात्रवृत्ति देना शुरू कर दिया तथा छात्रावास और भोजन मुफ्त । वहाँ रानीगंज सियारसोल राजस्कूल में उन्होंने तीन साल व्यतीत किए । इन्हीं दिनों नज़रूल का परिचय शास्त्रीय संगीत के मर्मज्ञ श्री सतीशचन्द्र काँजीलाल से हुआ, और उन्हें संगीत का विशाल सागर दिखाई दिया ।

नज़रूल जब दसवीं कक्षा में थे, तभी चारों ओर प्रथम विश्वयुद्ध की आग भड़क उठी । नज़रूल एक रेजीमेन्ट में भरती हो गए और हवलदार के पद तक पहुँच गए । अपने एक साथी नित्यानन्द डे के सहयोग से उन्होंने पियानो तथा ऑर्गन बजाने का अभ्यास कर लिया और वृन्दवादन का संचालन करने की योग्यता प्राप्त कर ली । 'मुक्ति' नामक पत्रिका में नज़रूल की सबसे पहली कविता 'बाउन्डुलेर आत्म कहानी' छपी और कराँची रेजिमेन्ट में उन्हें नज़रूल हवलदार कवि के नाम से जानने लगे ।

इनके मन में हमेशा यही रहता था कि अंग्रेज़ों को भारत से कैसे भगाया जाए । इसी संकल्प के साथ उन्होंने सितम्बर 1916 से 1919 तक 49 नम्बर की बंगाली प्लाटून में कार्य किया । इसके बाद इन्हें कराँची भेजा गया । जहाँ नज़रूल ने देश की स्वाधीनता के लिए निष्ठापूर्वक कार्य किया । इसी समय इनका परिचय एक कवि के रूप में उभरा । अंग्रेज़ सरकार ने इन्हें सब-रजिस्ट्रार के पद का नियुक्ति पत्र दिया लेकिन नज़रूल ने उसका बहिष्कार कर दिया और 'धुमकेतु' नाम से एक पत्रिका का प्रकाशन करने लगे, जो बहुत ही लोकप्रिय हुया। जिसके माध्यम से अंग्रेज़ी शासन के प्रति उन्होंने आग में घी डालने का कार्य किया । इसके परिणाम स्वरूप उन्हें एक वर्ष का कारावास भोगना पड़ा । सन् 1920 के मार्च तक प्रथम विश्वयुद्ध के समाप्त होने की घोषणा हो चुकी थी । अतः बंगाली रेजीमेन्ट भी समाप्त हो गया था । नज़रूल के लिए यह सौभाग्य की घड़ी थी, क्योंकि इसके बाद इन्हें साहित्य और संगीत के साथ जुड़ने का सुनहरा अवसर मिल गया। अब वे पूरी तौर पर साहित्य और संगीत से जुड़ गए । उनकी रचनाओं में जन-जीवन के सुख-दुःख, अधिकार, इच्छाएँ और मानसिक विद्रोह स्पष्ट रूप से अंकित होते रहे । नज़रूल के समकालीन प्रसिद्ध कवि श्री मोहितलाल मजुमदार नज़रूल की रचनाओं से इतने प्रभावित हुए कि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उसका स्तुतिवाचन करने लगे । जल्द ही नज़रूल काव्य और संगीत-जगत

में एक विशिष्ट विभूति के रूप में पहचाने लगे। उनकी जनवादी मानसिकता, देश-भक्ति, मानव-प्रेम और अंग्रेज़ शासकों के प्रति विद्रोह की भावना जैसे-जैसे लोकप्रिय होती गई तो शासक दल बौखला उठा और यहीं से नज़रूल पर अत्याचारों का सिलसिला शुरू हो गया । उन्होंने जेल की यन्त्रणा भोगी, अनशन की और अनेक पद छोड़े, लेकिन अपनी देश-भक्ति की कविताओं तथा संगीतों से समाज में जोश भर दिया । नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने भी एक बार जेल में कहा, "हम जैसे मनुष्य जो संगीत से दूर भागते हैं, उनके अन्दर भी एक प्रबल उत्साह जाग रहा है कि हम भी नज़रूल जैसे गीत गाने लग जाएँ । अब हम लोग मार्चपास्ट के समय ऐसे ही गीत गाया करेंगे । नज़रूल के गीतों को सुनने व गाने से कारावास, कारावास नहीं लगता" ।

नज़रूल ने 'मैगाफ़ोन' नामक रिकॉर्ड कम्पनी में संगीत निर्देशक के पद पर भी कार्य किया लेकिन अध्यात्म में विशेष रूचि होने के कारण सन् 1936 में इन्होंने नौकरी छोड़कर माँ काली की कठिन आराधना आरम्भ कर दी । फिर भी संगीत की चर्चा को इन्होंने अपने से अलग नहीं किया ।

जनवादी नज़रूल ने ही साम्यवादी नज़रूल इस्लाम को जन्म दिया । उन्होंने अंग्रेज़ों के प्रति घोर विद्रोह कि घोषणा की । अत: वे 'विद्रोही कवि' कहलाने लगे । लेकिन यथार्थ में वे ऐसे जनकवि थे, जिनके हृदय में मानव और समाज के प्रति प्रेम की भावना रहती थी । उनकी साम्यवादी भावना की पराकाष्ठा उनके काव्य-ग्रन्थ 'साम्यवादी' तथा 'सर्वहारा' में देखने को मिलती है । युवागोष्ठी के गीत, धीवर के गीत, सम्प्रदाय-सम्प्रीत के संगीत; जाति जागरण संगीत, मार्चपास्ट संगीत, और स्वदेश-संगीत इत्यादि में जनता की मानसिकता को उन्होंने पर्याप्त रूप से उजागर किया है । ऐसी सभी संगीत सम्बन्धी पुस्तकें अंग्रेज़ों ने ज़ब्द कर ली थी, लेकिन नज़रूल ने अपनी चेतना में कोई कमी नहीं आने दी, वे बड़े विचित्र स्वभाववाले बहुआयामी प्रतिभा से सम्पन्न घुमक्कड़ प्रकृति के एक बहुदिशागामी लेखक थे ।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी काज़ी नज़रूल इस्लाम ने लगभग सभी विधाओं पर गीतों की रचना की। इनके गीतों को निम्नांकित रूप में बाँटा जा सकता है -

1. समाज सुधार 2. जन-जीवन 3. जात-पात और सम्प्रदायवाद 4. देश-भक्ति 5. कोरस गीत या मार्चिंग सोंग 6. हिन्दी या उर्दू के गीत 7. इस्लामी सम्प्रदाय से सम्बन्धित गीत

8. भक्ति-परक गीत 9. सामाजिक पर्व गीत 10. गज़ल 11. क़व्वाली 12. हास्य-व्यंग्य के गीत 13. राग-प्रधान गीत 14. लोक-गीत 15. विभिन्न जातियों से सम्बन्धित गीत 16. पाश्चात्य स्वर आश्रित गीत 17. बंग्ला लक्षण गीत 18. पौराणिक, ऐतिहासिक और निबन्ध सम्बन्धित गीत 19. प्रेम-गीत 20. ऋतु-गीत ।

काव्य रचना में ओजस्विता और विचित्रता नज़रूल के गीतों की प्रधान विशेषता है । हिन्दू धर्म और सूफ़ी भक्ति इनकी रचनाओं में स्पष्ट झलकती है ।

स्व-निर्मित नवीन रागों के आधार पर उन्होंने अनेक गीत रचे । काव्य के कथावस्तु के आधार पर ही वे तत्सम्बन्धी संगीत रचना करते थे और विभिन्न देशी-विदेशी संगीत पद्धतिओं को आधार मानकर उसके अनुरूप गीतों की रचना करते थे । यदि यात्रिओं के काफ़िले पर उन्हें कुछ लिखना है तो वे उसका आधार अरबी संगीत को बताते थे । 'छन्दसी' नामक गीत नाट्य में उन्होंने संस्कृत के दस छन्दों का प्रयोग किया है । उन्होंने अनेक गीत आकाशवाणी के लिए भी रचे। काव्य के साथ वे संगीत में इतने डूबे रहते थे कि उनके अन्तर में नए-नए रागों का आविर्भाव होता रहता था । उनकी ऐसी रचनाएँ नवराग मालिका के अन्तर्गत प्रचारित होती रहती थी । उन्होंने अनेक रागों का निर्माण किया । खास बात यह है कि वे जिस राग को बताते थे, उसके नाम का उल्लेख उसकी बन्दिश में ही मिलता है ।

नज़रूल के नव-निर्मित रागों में कुछ नाम इस प्रकार हैं - 1. उदासी भैरव 2. अरूण भैरव 3. रूद्र भैरव 4. आशा भैरवी 5. शिवानी भैरवी 6. अरूण रंजनी 7. योगिनी 8. देवयानी 9. दोलन चाँपा 10. बेणुका 11. संध्या मालती 12. बनकुन्तला 13. शंकरी 14. रूप मंजरी 15. निर्झरी 16. मीनाक्षी 17. शिव सरस्वती 18. रक्त हंस सारंग आदि। रागों की तरह नयी ताल पर भी उन्होंने गीत रचना की।

नज़रूल सन् 1929 में ग्रामोफ़ोन के सम्पर्क में आये तथा 1931 से फ़िल्मी रंग मंच पर पदार्पण किया जिसमें उन्होंने अभिनय, संगीत निर्देशन, गीत लेखन और गायन भी किया । उनकी कुछ प्रसिद्ध फ़िल्मों के नाम है - आलेया, ध्रुव, विद्यापति, सापुड़े, महुआ, श्यामोलीर स्वपन, चौरंगी, नन्दिनी और चट्टग्राम अस्त्रागार लुण्ठन ।

काज़ी नज़रूल इस्लाम ने काफी कथा, नाटक, प्रबन्ध, उपन्यास, कविता तथा संगीत से सम्बन्धित विपुल साहित्य की रचना की । जिसमें से अनेक ग्रन्थ और अप्रकाशित साहित्य आज उपलब्ध नहीं है । उनकी कुछ संगीत ग्रन्थावली का नाम है - 1. बुलबुल 2. चोखेर चातक 3. चन्द्रबिन्दु 4. नज़रूल गीतिका 5. नज़रूल स्वरलिपि 6. सुर शाकी़ 7. जुलफ़िकार 8. बनगाति 9. गुल बगीचा 10. गीति शतदल 11. सुरलिपि 12. गानेर माला 13. सुर मुकुट 14. रांगाज़बा 15. नज़रूल गीति इत्यादि ।

संगीत तो क्या, जितने भी ग्रन्थों की रचना उन्होंने की वे साम्प्रदायिकता, जात-पात, साम्यवाद और मानवता की दृष्टि से बेजोड़ है । गीतकार और स्वरकार होने की दृष्टि से उनकी रचनाओं में साहित्य और संगीत दोनों की छटा दिखाई देती है । नज़रूल ने लगभग चार हज़ार गीतों की रचना की है । रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय सहित बंगाल के लगभग सभी संगीत विद्यालयों में नज़रूल संगीत की शिक्षा दी जा रही है । बंगाल में रवीन्द्र जयन्ती जैसे नज़रूल जयन्ती भी बड़े उत्साह के साथ मनाई जाती है ।

नज़रूल इस्लाम को अनेक पुरस्कार भी प्राप्त हुआ । कोलकाता विश्वविद्यालय द्वारा 'जगतारिणी' पुरस्कार (1945), भारत सरकार द्वारा 'पद्मभूषण', रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय द्वारा 'डी. लिट.' (1969), बांग्लादेश के ढाका विश्वविद्यालय द्वारा 'डी. लिट.' (1973), बांग्लादेश की नागरिकता (1972) आदि ।

रवीन्द्रनाथ की तरह नज़रूल ने भी विविध लोकप्रिय धुनों को अपने संगीत में ढाला और इस बात की परवाह नहीं की कि उनमें विशुद्ध भारतीयता बनी रहे । धुन अन्दर से उठनेवाली एक ऐसी हूक है जिसका न कोई देश होता है न कोई जाति होती है । नज़रूल ने स्वयं अपनी परम्परा का निर्माण किया । वे शब्दों की तरह सुरों से भी यथार्थ का बोध कराना चाहते थे ।

नज़रूल ने एक संगीतकार की भाँति भारतीय रागों को ग्रहण करके उन्हीं रागों का इस्तेमाल किया जो बांग्ला भाषा में मिलकर समुचित प्रभाव पैदा कर सकते है । उन्होंने लोक-संगीत, शास्त्रीय संगीत और विदेशी संगीत विशेषकर अरेबिक धुनों को उनकी ताल की जीवन्तता के कारण ही अपनाया । झुमर, बाउल, कीर्त्तन और श्यामा संगीत के लिए नज़रूल

ने धुनें तैयार की तो इस बात का सदैव ध्यान रखा कि काव्य भाव और शैली की आत्मा को कोई आघात न पहुँचे । नज़रूल ने छोटी सी कालावधि में हज़ारो संगीत रचना की। लेकिन उनकी शैली का विस्तार बहुत बड़े रूप में हुआ । 1930-1940 के बीच नज़रूल ने लगभग एक दर्जन गीतों की रचना प्रतिदिन की । बंगाल के लोकप्रिय आधुनिक संगीत के निर्माता नज़रूल को रवीन्द्रनाथ की तरह अपने काव्य को परिष्कृत करने का अवसर नहीं मिला ।

जीवन के अन्तिम 35 वर्ष उन्होंने कष्टपूर्वक बिताये । नज़रूल इस्लाम को एक असाध्य स्नायुविक (पिग्सडिसीज़) रोग हो गया था । सन् 1976 की 29 अगस्त को ढाका में नज़रूल ने अपनी नश्वर देह को त्यागा और उनकी इच्छा के अनुसार ढाका विश्वविद्यालय (बांग्लादेश) के प्रांगण में स्थित मस्जि़द के बग़ल में उनकी कब्र बनाई गई । यह पूरा कृत्य राष्ट्रीय मर्यादा के साथ सम्पन्न हुआ था । नज़रूल संगीत गानेवाले प्रसिद्ध कलाकारों में युथिका राय, पद्मा रानी चट्टोपाध्याय, पूरवी दत्त, कल्याणी काज़ी, धीरेन्द्रचन्द्र मित्र, अनूप घोषाल, विमान मुखर्जी, मानवेन्द्र मुखर्जी का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है ।

बांग्लादेश की नज़रूल संगीत गायिका फ़िरोज़ा बेगम का नाम भी बड़े आदर से लिया जाता है । जिन्होंने स्वयं नज़रूल से संगीत सीखा था । इनके अतिरिक्त धीरेन्द्र दास, ज्ञानेन्द्रप्रसाद गोस्वामी, इन्दुबाला, के. मल्लिक, अंगुर बाला, कमला झरिया, सुप्रभा सरकार तथा फ़िल्म के प्रसिद्ध संगीत निर्देशक सचिनदेव बर्मन ने भी स्वयं नज़रूल इस्लाम से संगीत सीखा था ।

बांग्ला गीतों की शुरूवात चर्यापद युग से हुई थी । हिन्दुस्तानी संगीत साधना के साथ समान रूप से बंगाल प्रदेश में काव्य-संगीत का प्रचलन होते आ रहा है । चर्यापद, जयदेव का 'गीत गोविन्द', वैष्णव पदकर्ताओं की पदावली, रामप्रसाद की भक्तिगीति, टप्पा, दाशु राय की 'पाँचाली' आदि का शरीर तो काव्य-संगीत का है, परन्तु हिन्दुस्तानी संगीत के सुरों से ही इन शरीरों को पुष्टि मिली । हिन्दुस्तानी संगीत से सुर ग्रहण करके भी बांग्ला गान अपनी स्वातन्त्रता को पकड़कर ही चला है ।

19वीं सदी में बांग्ला संगीत-जगत के इस स्वातन्त्र में नया आभास मिला । यह नवीनता ले आये थे द्विजेन्द्रलाल राय, अतुलप्रसाद सेन, रजनीकान्त सेन, रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं काज़ी नज़रूल इस्लाम आदि रचनाकार तथा संगीतकार ।

द्विजेन्द्रलाल ने ख्याल पद्धति से बांग्ला गान रचना की तथा युरोपीय संगीत का छन्द प्रयोग भी उन्होंने अपने संगीत में किया है । अतुलप्रसाद सेन ने अपने संगीत में ठुमरी का प्रयोग तथा बांग्ला काव्य के भाव-माधुर्य को अपनाया । रजनीकान्त ने ये दो शैलिओं के बीचवाला रास्ता चुनकर आगे बढ़ा, नज़रूल इस्लाम बांग्ला संगीत में लाए पारसी गज़लों का आभास तथा बंगाल की सभी शैलिओं को उन्होंने अपने संगीत के लिए अपनाया । अतः बांग्ला संगीत और प्रसारित हुआ । प्रसारण के अन्त में बांग्ला संगीत को ले आए कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर। ध्रुपद से लेकर लोक-संगीत की सभी शैलिओं को उन्होंने अपने संगीत में ढाला। शुद्ध राग को छोड़कर राग-मिश्रण, राग-मिश्रण के बाद राग-विवर्तन, छन्द विवर्तन, उसके बाद विदेशी सुरों को लाकर देशी शैलिओं की प्रयोगात्मक रचना, भक्ति, प्रीति, प्रेम, प्रकृति सभी रूप और रस का प्रयोग उन्होंने किया है।

18वीं सदी की उत्तरार्ध से 20वीं सदी तक अर्थात निधुबाबू की आधुनिक टप्पा शैली से प्रारम्भ होकर पंचों कविओं की रचना तक बंगाल के संगीत में आधुनिकीकरण हुआ है । उनमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर को श्रेष्ठ कवि माना गया और काज़ी नज़रूल इस्लाम को शेष आधुनिक कवि कहा गया है ।

18वीं सदी से लेकर आज तक इन सभी कवि संगीतकारों के योगदान के फलस्वरूप बंगाल का संगीत-जगत आज एक उच्च शिखर पर है । संगीत-जगत को आगे बढ़ाने के लिए इन कलाकारों के त्याग को बंगाल कभी भी भुला नहीं सकता ।

सन्दर्भ-सूत्र

1. प्रसंग बांग्ला गान - श्री राज्येश्वर मित्र पृष्ठ 105
2. - वही - पृष्ठ 106
3. - वही - पृष्ठ 106
4. - वही - पृष्ठ 107
5. - वही - पृष्ठ 110
6. - वही - पृष्ठ 111
7. - वही - पृष्ठ 111
8. - वही - पृष्ठ 112
9. संग्रह : सुप्रसिद्ध सांस्कृतिक व्यक्तित्व कामाल लोहानी
10. प्रसंग बांग्ला गान - श्री राज्येश्वर मित्र पृष्ठ 114
11. संग्रह : सुप्रसिद्ध सांस्कृतिक व्यक्तित्व कामाल लोहानी
12. - वही -
13. नज़रूल गीति अ-खण्ड-सम्पादक : अब्दुल अजीज़ आल्-आमान पृष्ठ 441
14. प्रबन्ध प्रकाश, भाग-2 पृष्ठ 8
    उत्स : भारतीय संस्कृति का विकास - डॉ. मंगलदेव शास्त्री पृष्ठ 3
15. आधुनिक भारत - बिपन चन्द्र पृष्ठ 208
    अनुवाद : गौरांगगोपाल सेन गुप्त
16. - वही - पृष्ठ 208
17. भारतीय संगीतेर कथा - प्रभात कुमार गोस्वामी पृष्ठ 181
18. प्रसंग बांग्ला गान - श्री राज्येश्वर मित्र पृष्ठ 68
19. संगीत चिन्ता - रवीन्द्रनाथ ठाकुर पृष्ठ 173-174
20. - वही - पृष्ठ 176
21. प्राचीन बांग्लार संगीत - श्री राज्येश्वर मित्र पृष्ठ 105-106
22. भारतीय संगीतेर कथा - प्रभात कुमार गोस्वामी पृष्ठ 171
23. प्राचीन बांग्लार संगीत - श्री राज्येश्वर मित्र पृष्ठ 107

❖ संगीतकारों का योगदान :

1. भारतीय संगीतेर कथा - प्रभात कुमार गोस्वामी
2. संगीत तत्व - देवब्रत दत्त (प्रथम एवं द्वितीय भाग)
3. हमारे संगीत रत्न - सम्पादक : डॉ. लक्ष्मीनारायण गर्ग
4. Hindustani Music - Ashok Da. Ranade
5. संगीत विशारद - वसन्त आदि ग्रन्थों के आधार पर लिखे गए है ।